

2857

शिवधर्म
की
करिखा
:-

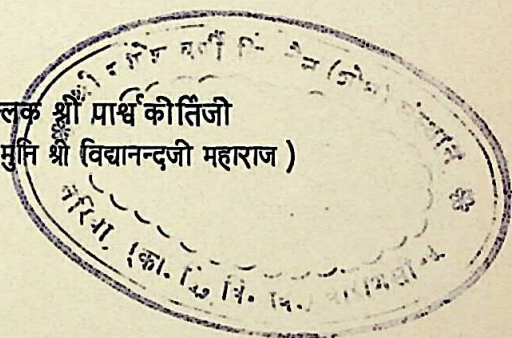
लौटानेकी
तिथि

— लाइव समर्पित

विश्वधर्म की रूप-रेखा



क्षुल्लक श्री मार्क कीर्तिजी
(वर्तमान मुनि श्री विद्यानन्दजी महाराज)



प्रकाशक :

श्री जयना कैमिकल प्रोडक्ट्स

छोटी छपैटी

फिरोजाबाद (यू०पी०)

प्राप्ति-स्थान :

मोतीलाल जैन पार्क,

जैननगर,

फिरोजाबाद (यू० पी०)

मूल्य : पठन-पाठन

वीर नि० सं० २४६२

मुद्रक :

जयपुर प्रिन्टर्स,

मिर्जा इस्मायल रोड,

जयपुर (राज०)

विषय-सूची

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ संख्या
१.	कर्मयुग का प्रारम्भ	१
२.	भगवान् ऋषभनाथ	३
३.	भरत की दिग्विजय	६
४.	वेदों पुराणों में उल्लेख	१०
५.	ऐतिहासिक उल्लेख	१७
६.	आदि ब्रह्मा	१६
७.	शिवरूप	२०
८.	बाबा आदम	२२
९.	भरत और भारत	२३
१०.	भगवान् मुनिसुव्रतनाथ	२६
११.	भगवान् नेमिनाथ	२८
१२.	भगवान् पार्श्वनाथ	३२
१३.	भगवान् महावीर	३४
१४.	महात्मा बुद्ध	३७
१५.	महात्मा यीशु	४५
१६.	यहूदी	४८
१७.	मक्का में जैनधर्म	५०
१८.	जैनधर्म की प्राचीनता	५१
१९.	प्राकृत भाषा	५८

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ संख्या
२०.	भाषा का संस्कार	 ६१
२१.	सत्य जानने की पद्धति	 ७३
२२.	अनेकान्त	 ७६
२३.	सप्तभङ्गी	 ८२
२४.	स्याद्वाद	 ८५
२५.	विश्वधर्म अहिंसा	 ९३
२६.	अहिंसा क्या है ?	 ९६
२७.	महात्मा बुद्ध की भविष्यवाणी	 १०३
२८.	हिन्दूधर्म	 १०८
२९.	मांस में पोषक तत्व ?	 ११७
३०.	सम्राट् चन्द्रगुप्त	 ११९
३१.	उपसंहार	 १२०
३२.	मेरी भावना	 १२३

प्रथम संस्करण की प्रस्तावना

आत्मा के उद्धार का जो अमोघ साधन है, उसका नाम धर्म है। आत्मा का विकास तथा उत्थान धर्म के द्वारा होता है और समस्त दुःखों का क्षय भी धर्म के द्वारा होता है, अतः इस जगत् में इस जीव के लिये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु धर्म है।

उस धर्म की रूप-रेखा क्या है और उसका उद्गम कब किसके द्वारा हुआ, यह बात प्रत्येक व्यक्ति को जान लेना परम आवश्यक है। परन्तु प्रायः जनता इस आवश्यक बात से अनभिज्ञ है। अतः जनसाधारण को ऐसे धर्म का, जो कि कुछ एक जन-समुदाय का ही नहीं अपितु जगत् के जीवमात्र का हितकारक हो, दिग्दर्शन कराना तथा उसके आदि-प्रवर्तक (धर्म-उपदेष्टा) का परिचय कराना बहुत आवश्यक है। प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन इसी दिशा में एक शुभ प्रयास है।

भारतखण्ड में जब कर्मयुग का प्रारम्भ हुआ, तब आज से करोड़ों वर्ष पहले युगप्रधान, महाज्ञानी, विश्वहितैषी भगवान् ऋषभनाथ हुए। उन्होंने अपने ज्ञान तथा लोकहितकारिणी भावना से जनता को समस्त कलाओं का एवं अंक-अक्षर-विद्या का परिज्ञान कराया, समस्त जनता को जीवन-निर्वाह के साधन बताकर लौकिक तथा राजनैतिक सुव्यवस्था की। तत्पश्चात् उन्होंने तपस्या करके स्वयं सर्वज्ञ वीतराग पद प्राप्त किया और समस्त जनता को अजर अमर परमात्मा बनने के साधनभूत धर्म का पथप्रदर्शन किया।

(ख)

उन ही भगवान् ऋषभदेव का वेद, पुराण आदि ग्रन्थों में भी आदर के साथ उल्लेख किया गया है, उन्हें आदि-पुरुष बतलाया है।

उन विश्ववन्द्य भगवान् ऋषभनाथ का तथा उनके निरूपित विश्वधर्म का एवं समस्त वाद-विवादों को दूर करने वाले स्याद्वाद सिद्धान्त का भी संक्षिप्त किन्तु सुन्दर सरल विवेचन इस पुस्तक में किया गया है। 'भारत की प्राचीन भाषा कौन-सी है, भाषाओं का क्रमिक विकास कैसे हुआ' इस विषय पर भी प्रकाश पुस्तक में डाला गया है।

समस्त सदाचारों का मूल और चर-अचर प्राणियों को सुख-शान्ति प्रदान करने वाला अहिंसा धर्म है। अहिंसा के आचरण से ही संसार का वैर, विरोध, दुःख, क्लेश, भय, शंका, व्याकुलता दूर होती है, विश्वप्रेम स्थापित होता है। अहिंसा के प्रभाव से सिंह, बाघ, सर्प आदि क्रूर जीव भी क्रूरता छोड़ देते हैं। समस्त जगत् यदि अहिंसा का आचरण करने लगे तो अशान्ति का कहीं भी नाम-निशान न रहे।

स्याद्वाद मानवीय हृदय में वह सरस धारा प्रवाहित करता है जिसमें पारस्परिक बौद्धिक विवाद बहकर विलीन हो जाता है और तथ्य स्वच्छ तात्त्विक बोध प्रकट होता है।

इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके भगवान् ऋषभनाथ ने या उनके प्रतिष्ठापित जैनधर्म ने जगत् का महान् कल्याण किया है।

इन बातों के विवेचन से यह छोटी सी पुस्तक बहुत कुछ प्रमेय प्रदान करती है। पूज्य क्षुल्लक श्री पार्श्वकीर्तिजी वर्णी* अपने

* वर्तमान मुनि श्री विद्यानन्दजी महाराज

(ग)

प्रयास में अच्छे सफल हुए हैं। आपकी मातृभाषा मराठी तथा कनाडी है फिर भी आपने यह पुस्तक अच्छी सरल सुन्दर हिन्दी भाषा में लिखी है।

पूज्य क्षुल्लकजी अच्छे सच्चरित्र, प्रभावशाली, मधुरभाषी आध्यात्मिक वक्ता भी हैं। आपका प्रवचन अच्छा आकर्षक होता है। इस तरह आप वक्ता और लेखक दोनों हैं। स्वात्मसाधन के सिवाय पर-हित-साधन की जो सद्भावना आपके हृदय में केन्द्रीभूत है, उसकी झलक आपकी लेखनी और शास्त्रप्रवचन में होती है।

आशा है आपके इस प्रयास से जनता अच्छा लाभ प्राप्त करेगी।

जैन - साहित्य - सदन,
चाँदनीचौक, दिल्ली
वीर नि. सं. २४८५

—परमानन्द शास्त्री







विश्व धर्म की रूपरेखा

श्रीमते सकलज्ञानसाम्राज्यपदमीयुषे ।

धर्मचक्रभूते भर्त्रे नमः संसारभीमुषे ॥

कर्मयुग का प्रारम्भ

यह जगत् अनादि समय से चला आ रहा है। समय के परिवर्तन से इस जगत् में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन हुआ करते हैं। कभी कहीं नगर विध्वस्त होकर वन वन जाते हैं, कभी कोई पृथ्वी का भाग जलमग्न होकर समुद्र या भील बन जाता है और कभी कहीं जलमय प्रदेश स्थल बन जाता है। जलवृष्टि, भूकम्प, विद्युत्पात आदि प्राकृतिक घटनाओं से महान् क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाते हैं।

परन्तु फिर भी जगत् में एक परमाणु मात्र की भी न्यूनता या अधिकता (कमी-बेशी) नहीं होती। जगत् में जितने भी बड़े चेतन पदार्थ हैं वे उतने ही अनन्त भूतकाल में थे और वे ही, उतने ही पदार्थ वर्तमान में हैं तथा अनन्त भविष्य काल में भी उतने ही रहेंगे। यानी—न तो कोई नवीन पदार्थ उत्पन्न होता है, कोई पदार्थ सर्वथा नष्ट होता है। हाँ विभिन्न बाहरी कारण कर उनके पर्याय (दशा) बदल जाया करते हैं। जैसे पृथ्वी,

(२)

जल, अग्नि, वायु में तथा जीवों की अवस्था में उलट फेर हमारे सामने नित्य प्रति हुआ करते हैं ।

सारांश यह है कि अनन्त जड़, चेतन पदार्थमय जगत् अनादि एवं अनिधन है तथा अकृत्रिम अविनाशी है—जैसे कि जीव है ।

जगत् के महान् परिवर्तनों के अनुसार जीवों को कभी सुखमय वातावरण मिलता है और कभी सुखदुखमय, कभी दुखमय तथा कभी महादुखमय परिस्थिति में जीवन व्यतीत करना पड़ता है । जैसे न सदा रात्रि रहती है और न सदा दिन रहता है, दिन रात्रि का चक्र चलता रहता है इसी तरह जगत् के परिवर्तन से जगत्-निवासी संसारी जीवों को भी बदलती हुई सुखदुखमय परिस्थिति में निर्वाह करना पड़ता है ।

अब से असंख्य वर्ष पहले यहाँ महान् सुखमय परिस्थिति थी, यहाँ सर्वत्र कल्पवृक्ष होते थे जिनके प्रकाश से सदा दिन का सा प्रकाश बना रहता था, खाने पीने, पहनने ओढ़ने, रहन सहन आदि के पदार्थ उन कल्पवृक्षों से ही अनायास (विना कुछ परिश्रम किये) मिल जाया करते थे । किसी भी मनुष्य या पशु-पक्षी को अपने जीवन-निर्वाह के लिए कुछ परिश्रम न करना पड़ता था । उस सुखमय समय को भोगयुग कहते हैं ।

किन्तु समय ने पलटा खाया, अतः वह भोगयुग समाप्त हो गया—जीवन-निर्वाह की सामग्री देने वाले कल्पवृक्ष स्वयं धीरे २ नष्ट-भ्रष्ट होते गये; जैसे कि शीतऋतु के आगमन पर वर्षाकाल के बादल विलीन हो जाते हैं । उस समय जनता के सामने अनेक प्रकार की कठिन समस्याएँ क्रम से आने लगीं । उन विकट समस्याओं को सुलझाने के लिए उस समय क्रम से १४ युगप्रधान

नेताओं का अवतार हुआ जिनका नाम 'मनु' या 'कुलकर' प्रसिद्ध हुआ । उनके नाम ये हैं —

१. प्रतिश्रुति, २. सन्मति, ३. क्षेमंकर, ४. क्षेमन्धर, ५. सीमंकर, ६. सीमन्धर, ७. विमलवाहन, ८. चक्षुष्मान, ९. यशस्वान, १०. अभिचन्द्र, ११. चन्द्राभ, १२. मरुद्देव, १३. प्रसेनजित और १४. नाभिराय ।

ये मनु (कुलकर) जनसाधारण की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान थे तथा जनता के परम हितैषी थे । इनके समय मनुष्यों को जो उलझने आईं, उन उलझनों को इन मनुओं ने अपने विशेष ज्ञान-बल से सुलझाया ।

भगवान् ऋषभनाथ

अंतिम मनु नाभिराय की गुणवती पत्नी मरुदेवी थी । मरुदेवी के गर्भ में एक महान् भाग्यशाली, महान् तेजस्वी पुत्र आया । उसके पुण्य प्रभाव से नाभिराय के घर स्वर्ग से देवों द्वारा रत्न-वर्षा होती रही । इस कारण जन्म से पहले उस गर्भस्थ शिशु का नाम जनता में 'हिरण्यगर्भ' (सुवर्ण गर्भ वाला) प्रसिद्ध हुआ । जिस समय उस प्रभावशाली पुत्र का जन्म हुआ उस समय भी देवों ने आकर महान् उत्सव किया । उसके दाहिने पैर में बैल का चिन्ह था, इस कारण उसका नाम ऋषभनाथ या वृषभनाथ रखा गया ।

ऋषभनाथ जन्म से ही महान् ज्ञानी (अवधिज्ञानी) थे, महान् सुन्दर, महान् बलवान् और महान् दयालु तथा पराक्रमी थे ।

युवा होने पर ऋषभनाथ का विवाह नन्दा तथा सुनन्दा नामक दो परमसुन्दरी गुणमयी कन्याओं से हुआ । नन्दा के गर्भ

(४)

से भरत आदि सौ पुत्र तथा ब्राह्मी नामक एक पुत्री हुई और सुनन्दा के उदर से बाहुबली नामक महाबलवान् एक पुत्र एवं सुन्दरी नामक एक पुत्री का जन्म हुआ ।

उस समय जनसाधारण को कल्पवृक्षों के न रहने से भोजन वस्त्र आदि जीवन-सामग्री मिलना दुर्लभ हो गया था, अतः जनता भूख, सर्दी-गर्मी आदि से बहुत व्याकुल हुई । अपनी कष्टकथा सुनाने के लिए मनुष्य नाभिराय के पास आये । नाभिराय ने अपने महान् ज्ञानी सुपुत्र ऋषभनाथ की ओर संकेत किया ।

तब भगवान् ऋषभनाथ ने अपने ज्ञानबल से लोगों को कृषि (खेती-बाड़ी) करके अन्न उत्पन्न करने की और अन्न से भोजन बनाने की विधि सिखलाई । रुई उपजाकर उससे वस्त्र बनाने के उपाय बतलाये । धातुओं तथा मिट्टी से वर्तन बनाने की प्रक्रिया समझाई ।

इसके सिवाय मनुष्यों को अस्त्र-शस्त्र (हथियार) चलाना सिखाया, अनेक प्रकार की शिल्प कला बताई, व्यापार करने का ढंग समझाया । जनता को परस्पर सहयोग से रहकर जीवन-निर्वाह करने के उपाय बतलाये । इत्यादि शिक्षाएँ जनता को देकर उनकी कष्ट-कठिनाइयाँ दूर कीं ।

भगवान् ऋषभनाथ ने अपने बड़े पुत्र भरत को नाट्य कला सिखलाई, बाहुबली को मल्लयुद्ध में निपुण कर दिया । अन्य पुत्रों को राजनीति, युद्धनीति आदि कलाओं की शिक्षा दी ।

एक दिन भगवान् आदिनाथ निश्चिन्त प्रसन्न मुद्रा में बैठे हुए थे तब उनकी दोनों पुत्रियाँ आकर उनकी गोद में बैठ गईं । ब्राह्मी बायें घुटने पर बैठी और सुन्दरी दाहिने घुटने पर बैठी ।

दोनों पुत्रियों ने मीठी भाषा में कहा कि पिताजी ! आपने सबको अनेक विद्याएँ सिखलाई हैं, हमें भी कोई अक्षय (अविनाशी) विद्या दीजिये ।

भगवान् आदिनाथ ने मुस्कराते हुए अपनी पुत्रियों के शिर पर प्रेम से हाथ फेरते हुए कहा कि अच्छा, ब्राह्मी ! तुम अपना दाहिना हाथ खोलकर निकालो तुमको मैं अक्षय विद्या सिखाता हूँ ।

तब ब्राह्मी ने अपना दाहिना हाथ भगवान् के सामने कर दिया । भगवान् ने अपने दाहिने हाथ के अंगूठे से उसकी हथेली पर अ, इ आदि १६ स्वर और क, ख आदि ३३ व्यञ्जन एवं ४ योगवाह अक्षर लिखकर उसको अक्षरविद्या या लिपिविद्या सिखलाई । उस पुत्री के नाम से ही उस आद्यलिपि का नाम ब्राह्मी लिपि जगत् में प्रसिद्ध हुआ ।

सुन्दरी भगवान् के दाहिने घुटने पर बैठी थी, अतः उसकी हथेली पर भगवान् ने अपने बाएँ हाथ के अंगूठे से १, २, ३ आदि अंक लिखकर इकाई दहाई सैकड़ा आदि की अंक-पद्धति तथा संकलन (जोड़), विकलन (बाकी), गुणा, भाग आदि गणित सिखलाया । बायाँ हाथ होने के कारण उन अंकों के लिखने का क्रम अक्षरों से उलटा (दाहिनी ओर से इकाई आदि के रूप में प्रारम्भ होकर बायीं ओर लिखने की परिपाटी) बतलाया गया । अतः तभी से अंकों के लिखने की पद्धति अक्षरों की अपेक्षा उलटी चल पड़ी ।

इस तरह भगवान् आदिनाथ ने जगत् में कर्मयुग (कृषि, शिल्प, विद्या, व्यापार आदि में परिश्रम करके जीवन-निर्वाह करने के उपाय) की सृष्टि, निर्माण या रचना की । इस कारण

(६)

उनके नाम 'आदिव्रह्मा', 'प्रजापति', आदिविधाता, आदिनाथ, आदीश्वर आदि जगत् में विख्यात हुए ।

बहुत समय तक भगवान् ऋषभनाथ ने न्यायनीति से राज्य शासन किया । उनके राज्य में किसी भी प्राणी को किसी तरह का कष्ट नहीं था ।

एक दिन वे राजसभा में बैठे थे । उस समय नीलांजना नामक अप्सरा सभा में नृत्य कर रही थी । नृत्य करते हुए ही उसकी आयु पूर्ण हो गई और तत्काल उसकी मृत्यु हो गई । इस घटना को देखकर भगवान् ऋषभनाथ की विचारधारा बाहरी संसार से हटकर अन्तरंग की ओर आकर्षित हुई ।

भगवान् ने विचार किया कि यह आत्मा शरीराधीन होकर अपना अमूल्य समय शरीर की सेवा में, इन्द्रियों की इच्छाओं को तृप्त करने में, विषय भोगों के भोगने में व्यतीत कर देता है, यह अपने कल्याण के लिए कुछ नहीं कर पाता । अचानक इसको मृत्यु का अतिथि बनना पड़ता है । मैंने अब तक का अपना दीर्घ जीवन सांसारिक कार्यों में बिताया, अपने ज्ञान और शक्ति का उपयोग मैंने अपने लिए कुछ भी न किया । इस तरह तो मैं जन्म मरण के चक्कर से भी न छूट पाऊँगा । अतः नीलांजना ने जैसे अपने जीवन में अपने हित के लिए कुछ न किया और अचानक उसकी मृत्यु हो गई, ऐसी घटना मेरे लिए भी हो सकती है । अतः अब मुझे गृहस्थाश्रम के कीचड़ से बाहर निकल कर आत्म-साधना करनी चाहिए ।

ऐसा चिन्तन करके भगवान् ऋषभनाथ ने अपने बड़े पुत्र भरत को राजसिंहासन पर बिठाकर अपना समस्त राज्यभार तथा गृहस्थाश्रम का भार सौंप दिया । अपने अन्य पुत्रों को थोड़ा-

थोड़ा राज्य देकर स्वयं सब कुछ त्याग कर एकान्त शान्त वनमें रवाना हो गये। वहाँ पर उन्होंने अपने शरीर के सभी वस्त्र आभूषण उतार दिये और नग्न होकर छह मास का योग लेकर आत्म-साधना में बैठ गये।

छह महीने तक आसन पर अचल बैठे रहे। उस अचल आसन के समय उनके शरीर पर आसपास के सर्प आकर चढ़ते उतरते रहते थे, गले में लिपटे रहते थे। उनके शिर पर बाल बहुत बढ़ गये थे। उस जटाजूट में वर्षाऋतु की जलवर्षा का जल भर जाता था और बहुत समय तक उनके शिर से जल की धारा बहती रहती थी। छह मास निराहार रह कर ऐसी कठोर तपस्या करने के पश्चात् जब वे उठे, तो भोजन के लिये निकटवर्ती नगर, गाँवों में घूमे किन्तु उस समय के स्त्री-पुरुष यह नहीं जानते थे कि साधु को भोजन किस तरह कराना चाहिये। भगवान् अपने मुख से कुछ बोलते न थे। अतः उन्हें छह मास तक भोजन भी न मिल पाया। इस तरह एक वर्ष तक निराहार रहकर उन्होंने तपस्या की।

एक वर्ष पीछे हस्तिनापुर में राजा श्रेयांस के यहाँ ठीक विधि से आहार मिला। उस समय आपने केवल तीन चुल्लू गन्ने का रस पीकर पारणा की।

तदनन्तर स्त्री-पुरुषों को साधु को भोजन कराने की विधि मालूम हो गई।

भगवान् मौन रह कर वन, पर्वत, श्मशान-भूमि, नदी-तट, गुफा आदि एकान्त शान्त स्थानों में विहार करके तपस्या करते रहे। इस तरह एक हजार वर्ष तक कठोर आत्मसाधना करने के बाद उन्होंने आत्मशत्रुओं—काम, क्रोध, मद, मोह, ईर्ष्या, राग, द्वेष, अज्ञान आदि दुर्भावों पर विजय प्राप्त की, संसार-

भ्रमण के कारणभूत घातिकर्मों पर विजय प्राप्त की। तब पूर्ण शुद्ध वीतराग सर्वज्ञातादृष्टा अर्हन्त बन गये। आत्मशत्रुओं पर विजय पाने के कारण उनका नाम “जिन” (जीतने वाला) विश्वविख्यात हुआ।

उसी समय उनका मौन भङ्ग हुआ। उन्होंने जनता के धर्मोपदेश देना प्रारम्भ किया, संसार से मुक्त होने की विधि-जन्म-मरण से छुटकारा पाकर अजर अमर परमात्मा बनने की प्रक्रिया सब को सरल सुबोध भाषा में समझाई। इस तरह उन्होंने सबसे प्रथम जो धर्म का प्रचार किया उस धर्म का नाम उनके प्रसिद्ध नाम ‘जिन’ के अनुसार जैनधर्म (जिनस्य अयं धर्मः जैनधर्मः) जग प्रसिद्ध हुआ।

उनके धर्म-उपदेश से सर्वसाधारण को लाभ पहुँचाने के लिये देवों द्वारा एक गोल सुन्दर विशाल सभामण्डप बनाया गया उसमें १२ कक्ष बनाये। उन कक्षों में देव, देवियाँ, मनुष्य, स्त्रियाँ, साधु, साध्वियाँ, तथा पशु-पक्षी आदि सभी जीव बैठ कर भगवान् का उपदेश सुनते थे। उस समवसरण (सभा मण्डप) के बीच एक तीन कटनी वेदी बनी थी। उसके ऊपर सिंहासन था। सिंहासन के बीच कमल का फूल बना था, उस कमल पर (उसके ४ अंगुल ऊपर अधर) भगवान् विराजमान होते थे।

भगवान् का मुख पूर्व या उत्तर दिशा की ओर होता था किन्तु दैवी चमत्कार से उनका मुख चारों दिशाओं में दिखाई देता था। इस कारण जनसाधारण उन्हें ‘कमलासन पद विराजमान चतुर्मुखी आदिब्रह्मा’ भी कहते थे।

भगवान् ने आचारांग आदि १२ अंगों का तथा प्रथमानुयोग

(६)

करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चार वेदों का उपदेश दिया ।

उनके उपदेश का क्रमवार विवेचन या व्याख्या करने वाला पहला गणधर या गणेश उनका ही दीक्षित साधुपुत्र 'वृषभसेन' हुआ । वृषभसेन के बाद ८३ गणधर और भी हुए ।

इस तरह भगवान् ऋषभनाथ ने अपनी कैवल्य-अर्हन्त अवस्था में बहुत लम्बे समय तक जैनधर्म का तथा मोक्षमार्ग का प्रचार किया । धर्म प्रचार के लिये उन्होंने सर्वत्र (सब जगह) विहार किया ।

जगत् में धर्म प्रचार करके वे फिर पूर्ण आत्म-साधना के लिए कैलाश पर्वत पर जा विराजमान हुए । वहाँ उन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य रूपी त्रिशूल के द्वारा आवशिष्ट कर्मशत्रुओं का क्षय किया । उस समय आपका नाम 'कैलाशपति' प्रसिद्ध हुआ । पर्वत-निवासिनी जनता (पार्वती) आपको अपना प्रभु मानती थी, अतः आपको 'पार्वती-पति' भी कहा जाने लगा ।

कैलाश पर्वत पर योग समाधि से आपने शेष कर्मों का क्षय करके पूर्ण मुक्ति प्राप्त की । अनन्त काल के लिए अजर, अमर, नित्य, निरञ्जन, सच्चिदानन्द परमात्मा बन गये । संसार के आवागमन से सदा के लिये छूट गये ।

भरत की दिग्विजय

भगवान् ऋषभनाथ के ज्येष्ठ पुत्र भरत ने राज-सिंहासन पर बैठ कर न्याय नीति, तथा प्रताप से बहुत दिनों तक शासन किया । कुछ समय पश्चात् वह अपनी विशाल सेना और 'चक्र' नामक दिव्य अस्त्र लेकर दिग्विजय के लिए निकला । समस्त

(१०)

देशों तथा समस्त राजाओं को जीत कर वह प्रथम चक्र-सम्राट् बना ।

उसी के नाम पर समस्त देशों का सामूहिक नाम 'भरतक्षेत्र' तथा इस देश का नाम 'भारत' प्रसिद्ध हुआ ।

इस प्रकार कर्मयुग के आदिस्रष्टा, अक्षर तथा अंक वि-
के आदि विधाता, साधुचर्या के आदि संचालक, धर्म के आ-
उपदेष्टा, मुक्ति-पंथ के आदि पथिक, भगवान् ऋषभनाथ का
संक्षेप में परिचय है, इसका विस्तार से विवेचन आदि पुराण-
लिखा हुआ है ।

वेदों पुराणों में उल्लेख

जैन शास्त्रों के इस कथन की पुष्टि अन्य जैनेतर पौराणिक
ग्रन्थों ने की है । वेदों में भगवान् आदिनाथ का नाम बड़े सम्-
के साथ लिया गया है । तथा अनेक इतिहासवेत्ता विद्वान्
इस बात का समर्थन करते हैं ।

भागवतपुराण—

वैदिक धर्म में भगवान् के २४ अवतार माने गये हैं, ज-
से साधु मार्ग का संचालक, मोक्षमार्ग का उपदेशक और धर्म-वि-
संस्थापक ऋषभ को माना गया है । भागवतपुराण में भगव-
आदिनाथ का वर्णन जैनग्रन्थों से मिलता जुलता पाया जाता है ।

भागवतपुराण के दूसरे स्कन्ध के सातवें अध्याय पृष्ठ ३५
को देखिये—

नाभेरसौ ऋषभ आप्तसुदेवसूनुः,
यो वै चचार समदृग् योगचर्याम् ।

(११)

यत्पारहंस्यमृषयः पदमानमंति,

स्वस्थः प्रशान्तकरणः परित्यक्तसङ्गः ॥१०॥

इस श्लोक की टीका पं० ज्वालाप्रसाद जी मिश्रने निम्न-
लिखित की है :—

“ईश्वर अग्नीन्द्र के पुत्र नाभि से सुदेव पुत्र ऋषभदेवजी भये, समद्रष्टा जड़ की नाई योगाभ्यास करते भये । जिनके परम हंस पदको ऋषियों ने नमस्कार कीनी । स्वस्थ, शान्त-इन्द्रिय सब अंग त्यागे ऋषभदेव भये । जिनसे जैन धर्म प्रगट भयो ।”

इस तरह भगवान् के कथनानुसार योग मार्ग के आदि प्रवर्तक और धर्म के आदि उपदेशक भगवान् आदिनाथ थे । उन्होंने ही जैन धर्म की नींव डाली । इस प्रकार जैन धर्म जगत् का सबसे प्राचीन आदि धर्म है ।

हरिवंशपुराण में लिखा है—

दर्शयन् वतर्म वीराणां, सुरासुरनमस्कृतः ।

नोतित्रयस्य कर्ता यो, युगादौ प्रथमो जिनः ॥३॥

अर्थ—वीर पुरुषों को धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ का मार्ग दिखाने वाले सुर असुरों से पूजनीय, युग की आदि में (सृष्टि के आरम्भ में) प्रथम जिन (भगवान् आदिनाथ) हुए ।

वायुपुराण अध्याय ३३ पृष्ठ ५७ पर—

नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युतिम् ।

ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥५०॥

अर्थ—नाभिराजा ने मरुदेवी से महाकान्तिमान पुत्र ऋषभ उत्पन्न किया । ऋषभ समस्त क्षत्रियों का पूर्वज था ।

(१२)

शिवपुराण—

इत्थं प्रभव ऋषभोऽवतारः शिवस्य मे ।

सतां गतिर्दीनबन्धुर्नवामः कथितस्तवः ॥

—अ. ४ श्लोक ४८

अर्थ—शिवजी कहते हैं कि ऋषभ मेरे ही अवतार हैं। वे दीनों के बन्धु हैं। सत्पुरुषों की गति उनसे ही होती है।

महाभारत में लिखा है—

पुनस्तत्रैव सर्वज्ञः सर्वदेवनमस्कृतः ।

छत्रत्रयातिसंयुक्तः पूज्यमूर्तिरसौ वहन् ॥ १ ॥

परमात्मानमात्मानं लसत्केवलनिर्मलम् ।

निरञ्जनं निराकारं ऋषभं तु महेद वृषम् ॥ २ ॥

अर्थ—ऋषभदेव सर्वज्ञ थे, सब देवों से नमस्कृत (पूज्य) थे, तीन छत्रों से शोभायमान थे और पूज्यमूर्ति थे, निर्मल केवलज्ञान से शोभायमान, परमात्मा, निरञ्जन, निराकार श्रेष्ठ ऋषभ की पूजा करनी चाहिये।

प्रभासपुराण में लिखा है—

कैलाशे विपुले रम्ये वृषभोऽयं जिनेश्वरः ।

चकार स्वावतारं च सर्वज्ञः सर्वगः शिवः ॥ ५६ ॥

यानी—विशाल रमणीय कैलाश पर्वत पर सर्वज्ञ, सर्वव्यापी शिवरूप भगवान् ऋषभ जिनेश्वर अवतरित हुए।

ब्रह्माण्डपुराण में लिखा है—

इह हि इक्ष्वाकुकुलवंशोद्भवेन नाभिसुतेन मरुदेव्या नन्दनेन महादेवेन ऋषभेण दशप्रकारो धर्मं स्वयमेवाचीर्णाः केवलज्ञान-लाभाच्च प्रवर्तितः ।

(१३)

इस आर्यावर्त में इक्ष्वाकुकुल में उत्पन्न नाभिराजा तथा मरु-देवी के पुत्र महादेव ऋषभनाथ ने क्षमा, मार्दव आदि १० प्रकार का धर्म स्वयं आचरण किया और केवलज्ञान प्राप्त होने से उस धर्म का प्रवर्तन किया ।

यहाँ भगवान् ऋषभनाथ को महादेव विशेषण से भी अलंकृत किया है । इसी प्रकार व्यासऋषि-विरचित पुराण ग्रन्थों में भगवान् ऋषभनाथ का उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है । भागवत पुराण में विस्तार से विवरण दिया है ।

वैदिक धर्म में श्री शुकदेवजी एक महान् प्रख्यात ऋषि हो गये हैं । उन्होंने २४ अवतारों में से केवल भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार किया है । उन्होंने ऐसा क्यों किया ? इस प्रश्न का सुन्दर उत्तर भागवत में निम्नलिखित दिया है—

‘भगवान ने अनेक अवतार धारण किये परन्तु जैसा संसार के मनुष्य कार्य करते हैं वैसा ही भगवान ने किया । परन्तु ऋषभदेव ने जगत को मोक्षमार्ग दिखलाया और अपने आपमें मोक्ष जाने के कर्म किये, इसलिये शुकदेव ने ऋषभदेव को नमस्कार किया ।’

—पं० शालिग्राम कृत भाषाटीका

यानी — मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति और प्रचार भगवान् आदिनाथ ने ही किया है ।

वेदों में अनेक स्थानों पर भगवान् आदिनाथ का स्मरण बहुत सम्मान के साथ किया गया है ।

देखिये—

अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां, विराजंतं प्रथममध्वराणाम् ।

अपां नपातमश्विना हुं वे, धिय इन्द्रियेण इन्द्रियं दत्तमोजः ॥

—अथर्ववेद कां० १९-४२-४

(१४)

यानी — समस्त पापों से मुक्त, व्रतियों में प्रथम (श्रेष्ठ)
विराजमान आदित्यस्वरूप भगवान् ऋषभनाथ हैं ।

अनर्वाणं ऋषभं मन्द्रजिह्वं, बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कं ।

—ऋग्वेद मं० १ सूक्त १९० मंत्र १

अर्थात् — मिष्टभाषी, ज्ञानी, स्तुतियोग्य ऋषभ की पूजा
साधक मंत्रों द्वारा वर्द्धित करो । वे स्तोता को नहीं छोड़ते ।

ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम् ।

हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम् ॥

—ऋग्वेद ८-८-२४

मरुत्वन्तं वृषभं वावृधान, मपकवारि दिव्यं शासनमिन्द्रम् ।

विश्वासामवसे नूतनायोग्रं, सहोदामिह तं हुवेम । —४-६-६

समिद्धस्य प्रमंहसोग्रे वंदे तव श्रियम् ।

वृषभो धुम्रवां असि समध्वरेष्विध्यसे ॥

—४-१-२५

स्तोकानामिन्दु प्रतिशूर इंद्रो, वृषायमाणो वृषभस्तुराषाद् ।

—यजु० २०-२४

इत्यादि अनेक वेद मंत्रों में भगवान् आदिनाथ का नाम-
उल्लेख मिलता है ।

जिस प्रकार जैन ग्रन्थों में उन्हें पहला योगी माना गया है,
उसी तरह जैनेतर ग्रन्थों में भी उन्हें योगविद्या का प्रारम्भ करने
वाला बतलाया गया है—

श्री आदिनाथाय नमोस्तु तस्मै, येनोपदिष्टा हठयोगविद्या ।

विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ॥१॥

—हठयोग प्रदीपिका

श्री आदिनाथ (ऋषभनाथ) भगवान् को नमस्कार हो जिन्होंने उस हठयोग विद्या का सर्वप्रथम उपदेश दिया जो कि बहुत ऊंचे राजयोग पर चढ़ने के लिए नसेनी के समान है ।

‘सहस्रनाम’ में जैन धर्म के दश अवतारों का उल्लेख किया गया है । वे अवतार हैं—

१. महाबल, २. ललितांग, ३. वज्रजंघ, ४. आर्य-भोगभूमि, ५. श्रीवर्म, ६. सुविधराजा, ७. अच्युतेन्द्र, ८. वज्रनाभि, ९. सर्वार्थसिद्धि और १०. वृषभनाथ । सहस्रनाम की दशावतार सूचक वह पंक्ति है— ‘दशावतार निर्धार्यो मां पाहि परमेश्वर !’

“योगविद्या की परम्परा भगवान् आदिनाथ (ऋषभनाथ) से प्रारम्भ हुई है । भगवान् आदिनाथ से योगविद्या मत्स्येन्द्रनाथ ने प्राप्त की । मत्स्येन्द्रनाथ से गोरखनाथ को ज्ञान प्राप्त हुआ ।” इस बात का समर्थन निम्नलिखित आधारों से होता है :—

आदिनाथं च मत्स्येन्द्रं गोरक्षं गहिनीं तथा ।

निवृत्ति ज्ञाननाथं च भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥

यानी—आदिनाथ सकल संसारी जीवों के गुरु हैं, उनका मुख्य शिष्य मत्स्येन्द्र है । मत्स्येन्द्र ने गोरख को बोध दिया, वही योग-ज्ञान परम्परा से चला आ रहा है, अतः उनको बार-बार नमस्कार करता हूँ ।

इसीके अनुरूप मराठी भाषा में सन्त ज्ञानेश्वर ने लिखा है—

आदिनाथ गुरु सकल सिद्धाचा,

मत्स्येन्द्र तथा चा मुख्य शिष्य ।

मत्स्येन्द्राने बोध गोरखांशी केला,

गोरक्ष ओडला गहिनी प्रती ॥

(१६)

यानी—समस्त सिद्धों (योगियों) का गुरु आदिनाथ है ।
आदिनाथ का मुख्य शिष्य मत्स्येन्द्र है । मत्स्येन्द्र ने गोरखनाथ
को ज्ञान दिया ।

इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों में भगवान् ऋषभनाथ (आदिनाथ)
को पहला योगी बतलाया गया है—

आदिनाथ नाती मछिन्द्रनाथ पूता ।

व्यंद तोलै राषीले गोरख अवधूता ॥

—गोरक्षपा पृ० १५६

दर्शन (चौरासी सिद्धों का)

आदिनाथ नाती मछिन्द्रनाथ पूता,

कायागढ़ जीतिले गोरख अवधूता । (४)

—दर्शन (८४ सिद्धों का) पृ० १५७

आदिनाथः शिवः । सर्वेषां नाथानां प्रथमो नाथः ॥

—हठयोग टीका

कल्याण (गोरखपुर) जनवरी १९५० के ८५४ वें पृष्ठ पर
लिखा है—

“सन्त महापुरुष नाम वर्ण जाति से परे होते हैं । नाथ पंथ का
प्रारम्भ आदिनाथ भगवान् शंकर से माना जाता है । आदिनाथजी
से मत्स्येन्द्रनाथजी को ‘योग’ प्राप्त हुआ । नेपाल राज्य के
अधिष्ठाता गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ही हैं । वहाँ आपको ‘आर्यावलो-
कितेश्वर’ कहा जाता है । गुरु मत्स्येन्द्रनाथजी के प्रधान शिष्य
गोरखनाथ हैं ।”

इन उपर्युक्त उद्धरणों से यह समर्थन होता है कि ज्ञान का
स्रोत भगवान् आदिनाथ (ऋषभनाथ) से बहा है ।

(१७)

मनुस्मृति में लिखा है —

अष्टषष्टिषु तीर्थेषु यात्रायां यत्फलं भवेत् ।

श्रीआदिनाथस्य देवस्य स्मरणेनापि तद् भवेत् ॥

यानी — अड़सठ तीर्थों में यात्रा करने से जो फल होता है उतना फल भगवान् आदिनाथ के स्मरण करने से होता है । आदिनाथ भगवान् ऋषभनाथ का ही अपर नाम है । आदिजिन, आदीश्वर, अग्रजिन भी भगवान् ऋषभनाथ के ही नाम हैं ।

हिन्दी विश्वकोष, हिन्दी शब्दसागरकोष, संस्कृत हिन्दी कोष, शब्दकल्पद्रुम कोष, शब्दार्थ चिन्तामणिकोष इत्यादि में भगवान् आदिनाथ को आदिजिन, प्रथम तीर्थकर बतलाया गया है ।

अन्तराष्ट्रीय महान् दार्शनिक विद्वान्, भारत के राष्ट्रपति डा. राधाकृष्णन् अपने ग्रन्थ इण्डियन फिलासफी के पृष्ठ २८७ पर लिखते हैं—

The Bhagwat Purana endorses the view that Rishabh was the founder of Jainism.

यानी—भागवतपुराण के मतानुसार जैनधर्म के संस्थापक भगवान् आदिनाथ थे ।

मुहुनजोदारो (सिन्ध) में जो साढ़े पाँच हजार वर्ष पुरानी वस्तुएँ पृथ्वी के नीचे से प्राप्त हुई हैं उनमें कुछ मुहरें (सीलें) भी हैं । उनमें से प्लेट संख्या २ की तीन से पाँच (३-४-५) तक की सीलों पर भगवान् आदिनाथ की नग्न खड़ी मूर्ति अंकित है । दूसरी ओर उनका चरण-चिन्ह बैल बना हुआ है । रायबहादुर प्रो० श्रीरामप्रसादजी चन्दा ने इन सीलों का अध्ययन करके मौडर्न रिव्यू के अगस्त १९३२ के प्रकाशन में जो अपना मत प्रकट किया है उसका हिन्दी अनुवाद निम्नलिखित है—

(१८)

“ईसवी की दूसरी शताब्दी की मथुरा वाली ऋषभदेव की खड्गासन मूर्ति, जो कि चार मूर्तियों के समान है, यहाँ दी जाती है। मिस्र (ईजिप्सियन) की भी प्राचीन मूर्तियाँ हैं, जिनके दोनों हाथ लटक रहे हैं। ईजिप्सियन की ये प्राचीन मूर्तियाँ और ग्रीक की मूर्तियाँ एक सरीखी हैं, किन्तु इनमें वैराग्य की दृष्टि का, जो कि मुहुनजोदारो और मथुरा की जैन मूर्तियों में पाई जाती है, अभाव है। ऋषभ का अर्थ बैल है और बैल ऋषभनाथ का चिह्न है। प्लेट नं० २ की तीन से पाँच नम्बर तक की सीलों पर खड़े हुई मूर्तियाँ जो कि बैल सहित हैं, भगवान् ऋषभदेव की नकल है कायोत्सर्ग आसन खास तौर से जैनों का है। यह बैठे हुए आसन नहीं है, खड़े हुए का है। आदिपुराण अध्याय १८ : ऋषभ या वृषभ के सम्बन्ध में इसका उल्लेख है।”

इससे प्रमाणित होता है कि जैनधर्म के आदि संस्थापक श्री भगवान् ऋषभनाथ की पूज्यता बहुत प्राचीन समय से चली आ रही है।

हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस के इतिहास के प्राध्यापक डा० प्राणनाथजी विद्यालंकार ने मुहुनजोदारो की ५५० वर्ष प्राचीन ४४९वीं सील का अध्ययन करके लिखा है—

It may also be noted that the inscription on the Indus seal No. 449 reads according to my decipherment—
Jineshwar Jinesh.

(Indian Historical quarterly, Vol. VIII, No. 2)

यानी—डा० प्राणनाथजी विद्यालंकार की सम्मति अनुसार मुहुनजोदारो की साढ़े पाँच हजार वर्ष पुरानी ४४९वीं सील पर ‘जिनेश्वर या जिनेश’ शब्द अंकित है।

(१६)

‘जिनेश या जिनेश्वर’ शब्द जैनधर्म के प्रवर्तक तीर्थंकर का वाचक है। इस कारण ४४६वीं मुहर से भी साढ़े पाँच हजार वर्ष पूर्व जैन तीर्थंकरों की मान्यता प्रमाणित होती है।

ईसवी सन् से २०० वर्ष पूर्व कलिंग का शासक महान् पराक्रमी सम्राट् राजा खारवेल हुआ है। उसने खण्डगिरि उदयगिरि पहाड़ी पर (हाथीगुफा में) १८ पंक्तियों का एक लेख खुदवाया है। उस लेख में उसने अपनी विजयों तथा राज्यविस्तार का, राज्याभिषेक आदि का विवरण दिया है। उसी लेख में उसने यह भी लिखाया है कि ‘३०० वर्ष पूर्व कलिंग राजपरिवार से मगधराजा द्वारा अपहरण की गई अग्रजिन (भगवान् ऋषभनाथ) की मूर्ति को मैं (खारवेल) मगध को जीत कर पुनः कलिंग में लाया।’

इस ऐतिहासिक लेख से भी प्रमाणित होता है कि भगवान् ऋषभनाथ की पूज्यता लगभग तीन हजार वर्ष से भी पहले राजपरिवारों में भी थी।

आदि ब्रह्मा

‘यह जगत् अकृत्रिम अनादिनिधन है, न कभी यह शून्य दशा में था और न कभी शून्य दशा में होगा। इसका प्रत्येक मूर्त, अमूर्त जड़, चेतन पदार्थ सदा से रहा है और सदा बना रहेगा। उनकी पर्याय बदलती रहेगी, उनका पूर्ण विनाश कभी नहीं होगा।

इस सिद्धान्त को जैसे जैनधर्म मानता है, विज्ञान (साइंस) भी उसका उसी तरह समर्थन करता है, अतः जगत् का निर्माण किसी ने किया हो—ऐसी जैन मान्यता नहीं है।

भगवान् ऋषभनाथ ने कर्मयुग के प्रारम्भ में अपनी जीवन-निर्वाह से अनभिज्ञ जनता को असि (अस्त्र-शस्त्र चलाना, क्षात्र-

(२०)

कर्म), मषी (लिखना-पढ़ना), कृषि (खेती-बाड़ी), शिल्प (वर्तन वस्त्र बनाना आदि हस्तकला), विद्या (पढ़ना-पढ़ाना), वाणिज्य (व्यापार, पशुपालन आदि उद्योग) ये ६ कार्य तथा राजनीति, युद्धकला, मल्लविद्या, नाट्य, गीत, संगीत आदि समस्त कलाएँ सिखलाई। समस्त स्त्री-पुरुषों को अपने पैरों पर खड़े होने योग्य बनाया। इस प्रकार उन्होंने युग-निर्माण किया। इसी कारण उनके नाम विधाता, ब्रह्मा, आदि विधाता, आदि ब्रह्मा, कर्मयुग-निर्माता आदि विविध विख्यात हुए।

आत्मसाधना, योग, साधुचर्या की नींव भी भगवान् ऋषभनाथ ने अपने योगी जीवन में डाली इस कारण वे योगमार्ग के प्रवर्तक, आदियोगी, आदिनाथ आदि नामों से पुकारे गये।

अर्हन्त सर्वज्ञ हो जाने पर समवसरण (उपदेश सभामंडप) में जब उनका धर्मोपदेश हुआ तब वे सिंहासन में रखे हुए कमल पुष्प पर विराजमान हुए तथा दैवी अतिशय से उनका एक मुख भी चारों ओर दिखाई दिया। इस कारण कमलासन पर विराजमान चतुर्मुखी ब्रह्मा भी उन्हें कहा गया।

उन्होंने प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चार वेदों का उपदेश दिया था, अतः ब्रह्मा आदिनाथ के चार मुखों से चार वेद प्रकट होने का समन्वय इस प्रकार होता है।

इस तरह भगवान् ऋषभनाथ को ही नाभि से उत्पन्न चतुर्मुखी जगन्निर्माता ब्रह्मा मानना या समझना चाहिये।

शिव-रूप

महेश जगत् का प्रलय करते हैं, कैलास पर्वत पर रहते हैं, हिमालय पर्वत की पुत्री पार्वती के वे पति हैं, बौल उनका

वाहन है। उनके शिर से गंगा बहती है, गणेश उनके पुत्र हैं, वे नग्न दिगम्बर हैं, त्रिशूल उनका हथियार है, सर्प उनके गले में हैं, वे भिक्षावृत्ति से रहते हैं।

ये सब विशेषण भगवान् ऋषभनाथ में घटित होते हैं। उन्होंने आत्मशत्रुओं—राग, मद, मोह, द्वेष, काम, क्रोध आदि भाव कर्मों तथा ज्ञानावरण आदि संसार-भ्रमण के कारणभूत द्रव्य कर्मों का दर्शन ज्ञान चारित्र्यरूप त्रिशूल से क्षय—संहार किया, इस अपेक्षा वे संसार के या कर्मशत्रुओं के प्रलयकर्ता हैं। कैलास पर्वत पर तपस्या करके भगवान् ऋषभनाथ ने मुक्ति प्राप्त की, अतः उनको कैलासपति भी कहा जाता है।

पर्वतनिवासिनी जनता को 'पार्वती' कहा जाता है, उस पार्वती (जनता) के प्रभु (पूज्य) होने के कारण भगवान् ऋषभनाथ को 'पार्वतीपति' भी कहा जा सकता है।

बैल का चिन्ह उनके पैर में था, अतः उनकी मूर्ति पर बैल का चिन्ह अंकित रहता है, इस कारण भगवान् ऋषभनाथ को वृषभ (बैल) नाथ भी कहा जाता है।

छह मास तक आत्मध्यान में लगे रहने के कारण उनके शिर की जटाजूट (वाल) बहुत बढ़ गई थी। वर्षा के दिनों में बादलों से बरसा हुआ जल उनकी जटा में भरकर बहता रहता था, अतः अलंकार के रूप में उनके शिर से गंगा की धारा बहने का विशेषण भगवान् ऋषभनाथ को लगाया गया।

साधु-अवस्था में भगवान् ऋषभनाथ नग्न थे, अतः उनका नाम दिगम्बर भी प्रसिद्ध हुआ।

योगधारण के समय सर्प उनके शरीर पर चढ़ते उतरते थे, गले में लिपट जाते थे।

(२२)

वृषभसेन उनके पुत्र थे, वे वृषभसेन भगवान् के दिव्योपदेश के समय उनके प्रथम गणधर हुए। गरुडेश भी उनको कहते हैं क्योंकि वे मुनिगण के ईश थे। इस तरह भगवान् ऋषभनाथ को गरुडेश का जनक या पिता भी कहा जाता है।

साधु-अवस्था में भगवान् ऋषभनाथ भोजन के लिये चर्या करते थे, इसीको भिक्षा भी कहा जाता है।

इन सब बातों का समन्वय किया जावे तो शिव या महादेव के समस्त विशेषण भगवान् ऋषभनाथ में घटित होते हैं।

बाबा आदम

इस्लाम मतानुसार सृष्टि के आदि में एक ही मनुष्य जाति थी। मनुष्यों को सन्मार्ग पर चलाने के लिये बाबा आदम ने धर्म उपदेश दिया।

‘आदम’ आदिनाथ का अपभ्रंश शब्द है। इस्लाम जिस आदिपुरुष को ‘आदम’ शब्द से कहता है वह आदम बाबा भगवान् ऋषभनाथ ही हैं जिनका अपर नाम आदिनाथ है।

इस्लामी ग्रन्थों में बतलाया गया है—

नबी का बेटा रसूल था, जिसको खुदा (परमात्मा) ने ईश्वरीय उपदेश जनता तक पहुँचाने के लिये पैदा किया।

इसका भी अभिप्राय यह है नबी (नाभि) का पुत्र (बेटा) रसूल (ऋषभ) हुआ जो मनुष्यों का पहला धर्मोपदेशक हुआ।

‘नबी’ शब्द ‘नाभि’ का अपभ्रंश है और ‘रसूल’ शब्द ‘ऋषभ’ का अपभ्रंश है। ‘आदम’ ‘आदिनाथ’ का अपभ्रंश है।

मैराजुलनबूत नामक मुसलमानी पुस्तक में लिखा है कि—
‘बाबा आदम हिन्दुस्तान में पैदा हुए।’

इसके अनुमार भी बाबा आदम का अभिप्राय भगवान् आदिनाथ (ऋषभनाथ) से है ।

भरत और भारत

हमारे देश का नाम जो 'भारत' है यह लाखों वर्ष पहले का प्राचीन नाम है । देश का यह नाम भगवान् आदिनाथ के ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम पर प्रचलित हुआ है । सम्राट् भरत समस्त देशों की विजय करने वाला पहला चक्रवर्ती सम्राट् हुआ है ।

इस बात के समर्थन में अनेक ग्रन्थों के उल्लेख हैं । देखिये—

अग्नीन्ध्रसूतोर्नाभिस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः ।

ऋषभाद्भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद्वरः ।३६।

सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राज्ञाज्यमास्थितः ।

तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रमसंश्रयः ।४०।

हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ ।

तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ।४१।

— मार्कण्डेयपुराण अ० ५०।

अर्थ — अग्नीन्ध्र के पुत्र नाभि से ऋषभ नामक पुत्र हुआ । ऋषभ से भरत का जन्म हुआ जो कि अपने सौ भाइयों से बड़ा था । ऋषभदेव ने अपने बड़े पुत्र भरत का राज्याभिषेक करके स्वयं प्रव्रज्या (साधुदीक्षा) ग्रहण की और तप करने लगे । भगवान् ऋषभदेव ने भरत को हिमालय पर्वत से दक्षिण का राज्य दिया था, इस कारण उस महात्मा भरत के नाम से इस देश का नाम 'भारतवर्ष' पड़ा ।

ऋषभाद्भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ।

तस्माद्भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ।५२।

— वायुपुराण अ० ३७।

(२४)

अर्थ — भगवान् ऋषभदेव से वीर भरत का जन्म हुआ जो कि अन्य सौ पुत्रों से बड़ा था। भरत के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा।

ऋषभो मरुदेव्यां च ऋषभाद्भरतोऽभवत् ।

तस्माद्भारतं वर्षं भरतात्सुमतिस्त्वभवत् । १२।

— अग्निपुराण अ० १०।

यानी — मरुदेवी माता से ऋषभ का जन्म हुआ। ऋषभ भरत की उत्पत्ति हुई और भरत से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ।

आसीत्पुरा मुनिश्रेष्ठो भारतो नाम भूपतिः ।

आर्षभो यस्य नाम्नेदं भारतं खण्डमुच्यते । १।

— नारदपुराण अ० ४८।

अर्थ — पुरातन समय में ऋषभ का पुत्र मुनिश्रेष्ठ भरत नाम का राजा था उसके नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष जाता है।

ऋषभाद् भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशताग्रजः ।

ततश्च भारतं वर्षमेतल्लोकेषु गीयते । ३२।

— विष्णुपुराण अंश २—अ० १।

अर्थ — सौ पुत्रों में सबसे बड़ा पुत्र भरत ऋषभदेवजी की उत्पत्ति हुआ। उस भरत से इस देश का नाम भारतवर्ष जाता है।

इसी प्रकार कूर्मपुराण, गरुडपुराण, ब्रह्माण्डपुराण आदि ग्रन्थों में भी उल्लेख मिला है। गोरखपुर के प्रसिद्ध मासिक पत्र कल्याण में (वर्ष २१, पृष्ठ १५१), ज्ञानोदय (वर्ष २, पृष्ठ ४४७) तथा Jain Antiquary (Vol IX, P. 76) एवं भारत

प्राचीन राजवंश (भाग २, पृष्ठ १) ग्रन्थ में भी इसी बात का समर्थन किया गया है कि 'भगवान् ऋषभ के बड़े पुत्र भरत के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष रखा गया है ।

जे० स्टीवेन्सन ने लिखा है —

Brahmanical Puranas prove Rishabha to be the father to that Bharata from whom India took its name Bharatavarsha.

— Kalpasutra Introd. P. XVI

यानी — ब्राह्मण पौराणिक ग्रंथ बतलाते हैं कि ऋषभ के पुत्र भरत हुए उनके नाम से इंडिया का नाम भारतवर्ष हुआ ।

इस तरह अनेक प्रमाणों से समर्थन होता है कि भगवान् ऋषभनाथ के पुत्र भरत के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष रखा गया है ।

अन्य ऐतिहासिक तीर्थंकर

भगवान् ऋषभनाथ ने जैनधर्म की स्थापना की । कैलास पर्वत से उनका निर्वाण हो जाने के पश्चात् उनके अनुयायी ऋषियों ने उस धर्म की परम्परा चालू रखी ।

फिर बहुत समय पश्चात् दूसरे तीर्थंकर श्री अजितनाथ उत्पन्न हुए । उन्होंने भी राजपाट त्याग कर साधुदीक्षा ली और तपस्या करके सर्वज्ञ अर्हन्त पद प्राप्त किया । तदनन्तर समवसरण (धर्मपरिषद्) में धर्म का उपदेश देकर भगवान् ऋषभनाथ के प्रचारित जैनधर्म का प्रचार किया ।

भारत के राष्ट्रपति डाक्टर राधाकृष्णन् ने अपनी पुस्तक इण्डिया फिलासफी में जिल्द १ पृष्ठ २८७ पर लिखा है—

यजुर्वेद में अजितनाथ तीर्थंकर का उल्लेख है ।

भगवान् अजितनाथ के मुक्ति-गमन के पश्चात् बहुत-बहुत समय पश्चात् क्रम से शंभवनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपाश्वर्चनाथ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्धुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ तीर्थङ्कर हुए। उन्होंने अपने-अपने समय में (वासुपूज्य तथा मल्लिनाथ के सिवाय) गृहस्थ अवस्था में राज्य किया, फिर राज्यभार त्याग कर मुनिदीक्षा ली। तपस्या करके केवलज्ञान प्राप्त किया। तदनन्तर बहुत समय तक धर्म प्रचार करके अन्त में मुक्ति प्राप्त की। भगवान् वासुपूज्य और मल्लिनाथ ने अपना विवाह नहीं किया, बालब्रह्मचारी रहे। यौवन अवस्था में साधुदीक्षा लेकर तपस्या की और सर्वज्ञ होकर अन्य तीर्थंकरों के समान धर्मप्रचार किया तथा अन्त में मुक्त हुए। वासुपूज्य चम्पापुर से मुक्त हुए, शेष समस्त तीर्थंकर सम्मेदशिखर पर्वत से मुक्त हुए।

मुनिसुव्रतनाथ

भगवान् मल्लिनाथ के बहुत समय के पश्चात् २०वें तीर्थंकर भगवान् मुनिसुव्रतनाथ हुए। उन्होंने कुछ समय राज्य किया फिर जब उनको संसार से विरक्ति हुई तब उन्होंने स्वयं साधुदीक्षा लेकर तपस्या की। जब कर्मशत्रुओं का क्षय करके वे सर्वज्ञ अर्हन्त हुए तब उन्होंने भी दीर्घ काल तक धर्म का प्रचार किया। अन्त में उन्होंने सम्मेदशिखर से मुक्ति प्राप्त की।

इनके समय में (बलभद्र) राम तथा लक्ष्मण, रावण, हनुमान् आदि विश्वविख्यात शूरवीर पुरुष हुए हैं। राम-रावण का युद्ध भी भगवान् मुनिसुव्रतनाथ के समय में हुआ है।

राम को अपने जीवन के अन्तिम समय में संसार से वैराग्य आ तो शान्ति प्राप्त करने के लिए जो अपनी इच्छा व्यक्त की, उसका उल्लेख योगवाशिष्ठ ग्रन्थ में यों किया है—

नाहं रामो न मे वाञ्छा विषये च न मे मनः ।

शांतिमासितुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा ॥८॥

अर्थ— रामचन्द्रजी कहते हैं कि—मैं न तो राम (रमन्ते योगिनो यस्मिन् स रामः यानी—योगी जिसमें रमण करें ऐसा महायोगी या ईश्वर) हूँ, न मुझे कोई इच्छा है, न मेरा मन विषय भोगों में लगता है। मैं तो जिन (जिनेन्द्र भगवान्) के समान अपनी आत्मा में ही शान्ति प्राप्त करना चाहता हूँ।

योगवाशिष्ठ के इस श्लोक से सिद्ध होता है कि राम लक्ष्मण के समय में भी जैन तीर्थंकर आत्मधर्म का प्रचार कर रहे थे, तभी उनके समान शान्त बनने की इच्छा राम के हृदय में उत्पन्न हुई। उन जिन तीर्थंकर का नाम मुनिसुव्रतनाथ था। वे २०वें तीर्थंकर थे।

भगवान् मुनिसुव्रतनाथ के मुक्त हो जाने पर बहुत समय पीछे मिथिलापुरी में राजा विजयरथ के पुत्र नमिनाथ हुए। ये २१वें तीर्थंकर थे।

इन्होंने यौवन समय राज्य किया, विवाह करके गृहस्थाश्रम में रहे। फिर संसार से विरक्त होकर राज्य परिवार से मोह ममता त्याग कर साधु बने। साधु बनकर इन्होंने आत्मशुद्धि करने के लिये वन पर्वत आदि एकान्त शान्त स्थानों में तपश्चरण करके सर्वज्ञ पद प्राप्त किया।

सर्वज्ञ होकर इन्होंने बहुत समय तक अपने पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के समान धर्म का प्रचार किया।

अन्त में सम्मोदशिखर पर्वत पर समस्त कर्मक्षय करके मु
प्राप्त की, अजर अमर परमात्मा बन गये ।

भगवान् नेमिनाथ

यदुवंशीय राजा समुद्रविजय के पुत्र नेमिनाथ हुए । राजा
समुद्रविजय वसुदेव के बड़े भाई थे । अतः कृष्ण बलराम
(बलराम) नेमिनाथ के चचेरे भाई थे । नेमिनाथ २१वें तीर्थंकर
हुए हैं । जूनागढ़ के राजा उग्रसेन की सुन्दरी सुपुत्री राजीश्वरी
के साथ नेमिनाथ का विवाह होना था । उसके लिये द्वारिका
नेमिनाथ की वरात बड़ी घूमधाम से जूनागढ़ पहुँची । जूनागढ़
में एक स्थान पर बहुत से पशु घिरे हुए थे । वे दुख से चीख रहे
थे । भगवान् नेमिनाथ ने पूछा कि इन निरपराध पशुओं को
तरह क्यों वन्द करके रखा हुआ है ?

तब उनको उत्तर मिला कि आपकी वरात में जो ब्राह्मण
मांसभक्षी आये होंगे उनके भोजन के लिये इन पशुओं का हत्या
किया जायेगा ।

यह बात सुनकर नेमिनाथ को संसार से वैराग्य हो गया ।
उन्होंने विचार किया कि मेरा विवाहोत्सव और इन मूक पशुओं
की मृत्यु ! कितनी विषम घटना है ! ऐसे गृहस्थाश्रम को धिक्कर
है जिसकी योजना के लिये इतना भारी पाप होता है । मैं अ
हर्ष के लिये किसी दीन प्राणी को दुःख नहीं देना चाहता ।

ऐसा विचार करके वे अपने रथ से नीचे उतरे और स
पहले उन्होंने उन पशुओं को बन्धनमुक्त किया । फिर अ
शिर से मौर मुकुट तथा शरीर से विवाह के वस्त्र आभूषण उ
डाले । और उसी समय स्वयं साधुदीक्षा लेकर जूनागढ़

(२६)

कटकवर्ती उर्जयन्त (गिरिनगर या गिरिनार) पर्वत पर तप करने लगे गये। बरात तथा कन्यापक्ष की जनता उदास होकर कर्कत्तव्यविमूढ़ हो गई। बरात खाली वापस लौट गई।

उग्रसेन की सुपुत्री राजकुमारी राजमती ने जब अपने होने वाले पति नेमिनाथ के साधु बन जाने की घटना सुनी तो उसे भी संसार से वैराग्य हो गया और उसने घर परिवार से मोह-ममता त्याग कर साध्वी का रूप बना लिया। तदनन्तर वह भी तपस्या करने गिरिनार पर्वत पर चली गई।

बहुत दिन तक तपस्या करने के बाद भगवान् नेमिनाथ को केवलज्ञान हुआ। केवलज्ञान हो जाने पर समवसरण द्वारा उन्होंने सर्वत्र विहार करके धर्मप्रचार किया। उनका समवसरण द्वारिका भी गया था। उस समवसरण में भगवान् की वन्दना के लिये कृष्ण वलभद्र आदि यदुवंशी आये थे। बहुत समय धर्म प्रचार करके अन्तिम समय गिरिनार पर्वत (ऊर्जयन्त, रैवतक, गिरिनगर आदि नाम भी इस पर्वत के हैं) पर आये, वहीं से समस्त कर्मों का क्षय करके अजर अमर मुक्त हो गये।

भगवान् नेमिनाथ का दूसरा नाम अरिष्टनेमि भी है। इनका उल्लेख भी पुराणों तथा वेदों में मिलता है।

रेवताद्रौ जिनो नेमिर्युगार्दिविमलाचले ।

ऋषीणामाश्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम् ॥

—महाभारत

अर्थ—कैलाश पर्वत पर भगवान् आदिनाथ (भगवान् ऋषभनाथ) ने युग के आदि में मुक्ति प्राप्त की तथा रेवत पर्वत (गिरिनार) पर जिनेन्द्र नेमिनाथ ने मुक्ति प्राप्त की। इसी कारण ये

(३०)

दोनों पर्वत ऋषियों के आश्रम बने और इसी कारण ये मुक्ति के कारण माने गये हैं ।

स्कन्दपुराण प्रभासखंड के वस्त्रापथ क्षेत्र माहात्म्य अध्याय १६ पृष्ठ २२१ में गिरिनार पर्वत पर भगवान् नेमिनाथ का विवरण करते हुए लिखा है —

मनोभीष्टार्थसिद्ध्यर्थं ततः सिद्धिमवाप्तवान् ।

नेमिनाथ शिवेत्येवं नाम चक्रथ वामनः ॥ ६६ ॥

अर्थ—अपना मनोवांछित कार्य सिद्ध करने के लिये गिरिनार पर आया और वामनाने भगवान् नेमिनाथ का नाम 'नेमिनाथ' रखा ।

तवां रथं वयद्याहुवेमस्तो मेरश्चिना सविताय नव्यं ।

अरिष्टनेमिं परद्यामियानं, विद्यामेषं वृजनं जीरदानम् ।

—ऋग्वेद अ० २ अ० ४ व

अर्थ—जिसमें बड़े-बड़े घोड़े जुते हुए हैं ऐसे रथ में बैठे आकाश पथ में चलने वाले सूर्य के समान विद्यारूपी रथ में जुते हुए अरिष्टनेमि का हम आह्वान करते हैं ।

ॐ रक्ष रक्ष अरिष्टनेमि स्वाहा (यजुर्वेद अ० २६)

यानी—हे अरिष्टनेमि मेरी रक्षा करो ।

वाजस्यनु प्रसव आभूचेमा च विश्वा भुवनानि सर्वतः ।

स नेमिराजा परियाति विद्वान्, प्रजां पुष्टि वर्धयमानो अस्मै ।

—यजुर्वेद अ० ६ मंत्र

स्वस्ति न वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।

स्वस्ति न स्ताक्षर्यो अरिष्टनेमिः, स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।

—सामवेद प्रपा० ६ अ०

(३१)

इस प्रकार पौराणिक तथा वैदिक ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर भगवान् नेमिनाथ का सम्मान के साथ उल्लेख आया है । भारत के राष्ट्रपति डाक्टर राधाकृष्णन् ने भी अपनी इंडियन फिलासफी जिल्द २ पृष्ठ २८७ पर इसका समर्थन किया है कि जैनधर्म के २२वें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ का वेदों में वर्णन पाया जाता है ।

डाक्टर हरिसत्य भट्टाचार्य अपनी पुस्तक 'अरिष्टनेमि' में पृष्ठ ५८ पर लिखते हैं—

When the Samavsharana of Lord Arishta Nemi was reported to have come near Dwarikaji, Lord Krishna went to see him with his family. Lord Krishna bowed down to Lord Arishta Nemi.

यानी—जब कृष्ण को सूचना मिली कि भगवान् नेमिनाथ का समवसरण द्वारिका के समीप आया है तो कृष्ण अपने परिवार सहित उनसे भेंट करने गये । वहाँ जाकर उन्होंने नेमिनाथ की वन्दना की ।

इसके सिवाय डाक्टर फ्यूरर ने एपीग्राफी इण्डिका जिल्द १ पृष्ठ ३८६ पर भगवान् नेमिनाथ को २२वां जैन तीर्थंकर ऐतिहासिक रूप से स्वीकार किया है ।

१६ मार्च सन् १९३५ के टाइम्स आफ इण्डिया के ९वें पृष्ठ पर डा० प्राणनाथजी विद्यालंकार का लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें उन्होंने कृष्ण के समकालीन भगवान् नेमिनाथ को जैन धर्म के २२वें तीर्थंकर के रूप में उल्लिखित किया है ।

डा० विमलचरण ला केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया में लिखते हैं—

अरिष्टनेमि अथवा नेमिनाथ बाईसवें तीर्थंकर थे । ये एक वरद क्षत्रिय धर्मप्रसारक व समाज के धुरीण हो गये हैं । वे

(३२)

संयमी, ध्यानमग्न, चतुर और शान्तस्वभावी थे । उनको सत्य दर्शन हुआ था । वे शुद्ध, सत्व व धर्मप्रवीण थे । उन्होंने सब बन्धन नष्ट किये थे ।

श्री ऐच० ऐस० भट्टाचार्य, एम० ए० “विश्व की दृष्टि में जैन धर्म” पुस्तक में १८वें पृष्ठ पर लिखते हैं—

भगवान् नेमिनाथ ऐतिहासिक महापुरुष हैं क्योंकि यदि महाभारत के प्रमुख पुरुष श्रीकृष्ण इतिहास की भाषा में अस्तित्व रखते हैं, तो उनके चचेरे भाई परमदयालु भगवान् नेमिनाथ को कौन सहृदय ऐतिहासिक विभूति न मानेगा ? जिनके निर्वाण स्थल के रूप में ऊर्जयन्त गिरि (गिरिनार पर्वत) पूजा जाता है

उक्त प्रमाणों से भगवान् नेमिनाथ का २२वें तीर्थंकर के रूप में समर्थन होता है । अभिप्राय यह है कि महाभारत के समय में भी जैनधर्म का प्रचार था ।

भगवान् पार्श्वनाथ

बनारस के क्षत्रिय राजा अश्वसेन की रानी वामादेवी के उदर से महान् तेजस्वी पुत्र पार्श्वनाथ हुए । ये जैनधर्म का महान् प्रचार करने वाले २३वें तीर्थंकर थे । इनका जन्म ईसवी सन् से ८७७ वर्ष पहले हुआ था । इन्होंने अपना विवाह नहीं किया, बालब्रह्मचारी रहे । जिस यौवन अवस्था में मनुष्य कामवासना का शिकार बनकर विषय भोगों में फँस जाता है उस यौवन दशा से भी पहले भगवान् पार्श्वनाथ ने विषयभोगों से विरक्त होकर ममतामयी माता तथा प्रेममय पिता और स्नेह मित्र परिकर से मोह ममता त्याग करके साधुदीक्षा ली । सा बनकर पर्वत, गुफा, वन आदि एकान्त स्थानों में आत्मशुद्धि लिये कठोर तपस्या की ।

(३३)

आत्मध्यान के प्रभाव से घातिकर्मों का क्षय करके कैवल्य-पद प्राप्त किया । फिर सर्वत्र विहार करके ७० वर्ष तक धर्म का उपदेश देकर जनता को सन्मार्ग पर लगाया । अन्त में सम्मेद-शिखर पर ईसवी सन् से ७७७ वर्ष पूर्व मुक्ति प्राप्त की ।

भगवान् पार्श्वनाथ भी ऐतिहासिक तीर्थंकर हुए हैं इनका अस्तित्व अनेक प्रमाणों से प्रमाणित होता है ।

साहित्य एकेडमी दिल्ली से १९५६ में प्रकाशित श्री धर्मनिन्द कौशाम्बी-लिखित पुस्तक “भगवान् बुद्ध” के पृष्ठ ३५-३६ पर लिखा है :-

“वाराणसी—काशी के अश्वसेन राजा की वामारानी के पेट से जैनों के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने जन्म लिया था । उन्होंने उपदेश का प्रारम्भ गौतमबुद्ध के जन्म से पहले लगभग २४३वें वर्ष में किया था । इससे हम यह स्पष्ट कह सकते हैं कि काशी के महाजन केवल कला कौशल में ही नहीं बल्कि धार्मिक विचारों में भी अग्रणी थे ।”

इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स की जिल्द ७ में भगवान् पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक व्यक्ति बतलाया गया है ।

कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया की जिल्द १ पृष्ठ १२३ पर भी भगवान् पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक महान् पुरुष माना गया है ।

हिस्ट्री आफ दी वर्ल्ड की जिल्द २ पृष्ठ ११९८वें पर भी भगवान् पार्श्वनाथ का अस्तित्व स्वीकार किया गया है ।

डा० हेनरी-लिखित ‘फिलासफीज ऑफ इंडिया’ के पृष्ठ १८२-१८३ पर भी भगवान् पार्श्वनाथ के ऐतिहासिक अस्तित्व की पुष्टि की गई है ।

(३४)

प्रोफेसर आयङ्गर—लिखित 'स्टडीज इन साऊथ इंडिय जैनिज्म' की जिल्द १ पृष्ठ २ पर भी भगवान् पार्श्वनाथ का हो वतलाया गया है ।

इत्यादि अनेक इतिहासवेत्ता विद्वानों ने अनुसन्धान कर भगवान् पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक महापुरुष तथा महान् प्रचारक स्वीकार किया है ।

हजारीबाग जिले में अनेक पर्वतों का समुदाय रूप समे शिखर पर्वत स्थित है । इस पर्वत की सबसे ऊँची चोटी भगवान् पार्श्वनाथ ने अजर अमर मुक्तिपद प्राप्त किया । इसी कारण इस पर्वत का नाम 'पारसनाथहिल' भी है ।

भगवान् महावीर

कुण्डलपुर के शासक ज्ञातृवंशीय राजा सिद्धार्थ की त्रिशला की कोख से महान् प्रतापी पुत्र भगवान् महावीर का हुआ । वह दिन आज से २५६२ वर्ष पहले चैत्र सुदी त्रयोदशी का था । ये जैनधर्म के अन्तिम (चौबीसवें) तीर्थंकर वैशाली के गणतन्त्रनायक राजा चेटक भगवान् महावीर के जन्म थे । कर्लिंगनरेश राजा जितशत्रु की सुन्दरी युवती कन्या यशोधरा के साथ भगवान् महावीर का पाणिग्रहण (विवाह) होने तैयारी हुई किन्तु भगवान् महावीर ने विवाह करना अस्वीकार कर दिया । ३० वर्ष तक घर में रहे, फिर राजभवन छोड़ आत्मशुद्धि के लिये तपस्या करने वन में चले गये ।

बारह वर्ष तक कठिन तपस्या करने के बाद आपको अर्हन्त पद प्राप्त हुआ । तब आपका दिव्य—उपदेश करके लिये समवसरण नामक दिव्य सभा बनाई गई । उसमें

(३५)

अहिंसामय उपदेश दिया । इस तरह ३० वर्ष तक आप सर्वत्र विहार करके अहिंसाधर्म का प्रचार करते रहे । आपके धर्म-प्रचार से उस समय का पशुहवन यज्ञ होना बन्द हो गया । उन यज्ञों में घोड़े, बकरे आदि पशुओं को निर्दयता से मारा जाता था । उस हिंसा का प्रचार आपके उपदेश से रुक गया । ३० वर्ष तक लगातार धर्मप्रचार करने के बाद अन्तिम समय आप पावापुरी पहुँचे, वहाँ कार्तिक वदी अमावस्या को आपका निर्वाण हो गया । उस निर्वाण को अब २४६० वर्ष हो गये हैं ।

दीपावली

कार्तिक वदी अमावस्या को रात्रि के अन्तिम पहर भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ था । उस समय स्त्री-पुरुषों तथा देवों ने असंख्य दीपक जलाकर निर्वाण-उत्सव किया था । उसीके स्मारक रूप भारत में प्रतिवर्ष दीपावली (दिवाली) का उत्सव कार्तिक वदी अमावस्या को मनाया जाता है ।

आपका जन्म नाम 'वर्द्धमान' था । तदन्तर बाल्यावस्था में ही वीरता आदि दिखलाने के कारण वीर, सन्मति, महावीर और अतिवीर भी आपके अपर नाम थे । आपके दाहिने पैर में सिंह का चिन्ह था ।

आपके नाम को चिरस्थायी रखने के लिये आपके नामानुसार बंगाल विहार के अनेक नगरों के वर्द्धमान, वीरभूमि, सिंहभूमि आदि नाम रखे गये ।

भगवान् महावीर का सम्मान के साथ उल्लेख वर्द्धमान, वीर, सुवीर, महावीर आदि नाम लेकर वेदों में भी पाया जाता है ।

(३६)

आतिथ्यरूपं मासरं महावीरस्य नग्नहुः ।

रूपमुपसदामेतत्स्रो रात्रीः सुरासुता । १४।

—यजुर्वेद अध्याय १६

अर्थ — अतिथि, मासोपवासी, नग्नमुद्राधारक भगवान् महा-
वीर की उपासना करो जिससे तीन प्रकार की अज्ञान अन्धकार
रूपी रात्रि पैदा न हो ।

ऋग्वेद मंडल २ अध्याय १ सूक्त ३ में लिखा है—

देववर्हिर्वर्धमानं सुवीरं, स्तीर्णं रायेसुभर वेद्यस्याम् ।

घृतेनाक्तवसवः सीदतेदं विश्वेदेवा आदित्यायज्ञियासः । ४।

अर्थ — हे देवों के देव वर्द्धमान ! आप सुवीर हैं, व्यापक हैं ।
हम सम्पदा पाने के लिये इस वेदी पर घी से आपका आह्वान
करते हैं । इसलिये सब देवता यज्ञ में आवें और प्रसन्न हों ।

डा. विमलचरण ला एम. ए. एल. एल. बी. लिखते हैं—

Jain Tirthankaras are well-known in the Vedic
Literature.

—*Historical Gleanings.*

यानी — वैदिक साहित्य में जैन तीर्थंकरों का अच्छा उल्लेख है ।

अन्तर्राष्ट्रीय फिलासफर राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् ने भी
अपनी पुस्तक इंडियन फिलासफी में इस बात की पुष्टि की है ।

प्रो० विरूपाक्ष वडियर वेदतीर्थ लिखते हैं—

Vedas and Hindu Purans contain the names of Jain
Tirthankaras frequently.

यानी — वेदों और हिन्दू पुराणों में जैन तीर्थंकरों के नाम
स्पष्ट पाये जाते हैं ।

इस तरह विश्वहितङ्कर अहिंसामय धर्म की जिस ज्योति को
भगवान् ऋषभनाथ ने जगाया, वह ज्योति उनके पश्चात् क्रमशः

(३७)

होने वाले २३ तीर्थकरों ने बुझने नहीं दी, आज भी वह धर्म-ज्योति जागृत है ।

अखिल विश्व को पथप्रदर्शन इस ज्योति से भूतकाल में मिला, वर्तमान में मिल रहा है और भविष्य में भी मिलेगा ।

महात्मा बुद्ध

भगवान् महावीर के समकालीन मगध में एक अन्य क्षत्रिय राजकुमार वैदिक पशुहवन के विरुद्ध अहिंसा का प्रचार करने वाले प्रकट हुए जिनका प्रसिद्ध नाम महात्मा बुद्ध या गौतमबुद्ध है । ये कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन के पुत्र थे । इन्होंने संसार से विरक्त होकर अपने शिशुपुत्र तथा पत्नी को एवं अपने अन्य समस्त परिवार को छोड़कर साधुदीक्षा ली ।

उस समय भगवान् महावीर का शासनकाल नहीं था । उस समय भगवान् पार्श्वनाथ की शिष्यपरम्परा का श्रमणसंघ (साधु-गण) धर्म प्रचार कर रहा था ।

श्री देवसेन आचार्य विरचित दर्शनसार पुस्तक में लिखा है—

सिरिपासणाहत्तिथे सरयूतीरे पलासणयरत्थो ।

पिहियासवस्स सिस्सो महासुदो बुद्धकित्तमुणी ॥६॥

तिमिपूरणासरोहिं अहिगयपबज्जाओ परिब्भट्ठो ।

रत्तंबरं धरित्ता पवट्ठियं तेण एयंतं ॥७॥

अर्थ — श्री पार्श्वनाथ भगवान् के तीर्थकाल में (भगवान् महावीर के धर्मप्रचार होने से पहले) सरयू नदी के किनारे पलाश नगर में विराजमान श्री पिहितासव मुनि का शिष्य बुद्धकीर्ति मुनि हुआ । वह मरी हुई मछली के मांस को निर्दोष समझकर

खा जाने से साधुचर्या से भ्रष्ट हो गया । तब उसने (अपना नग्न वेश छोड़कर) लाल कपड़े पहन लिये और क्षणिक एकान्त मत (बौद्धमत) की स्थापना की ।

श्री देवसेन आचार्य का उक्त कथन सत्य प्रमाणित होता है क्योंकि उस समय भगवान् पार्श्वनाथ की श्रमणपरम्परा चल रही थी और गौतमबुद्ध ने घर-वार त्यागकर पहले-पहल अपने शरीर के समस्त वस्त्र उतार कर जैनसाधु का नग्न वेश धारण किया था, कुछ दिन वे जैनसाधु के समान नग्न (नंगे) रहकर तपस्या करते रहे किन्तु जब उनको वह नग्न तपस्या बहुत कठिन प्रतीत हुई तब उन्होंने उस नग्न मुनिचर्या को त्यागकर गेरुआ (लाल) कपड़े पहन लिये तथा जैनमुनि की खान-पान सम्बन्धी एवं अन्य चर्या का भी परित्याग कर दिया ।

यह बात उन्होंने बौद्धग्रन्थ मज्झिमनिकाय महासीहनाद सुत्त १२ में स्वयं बतलाई है । देखिये—

अचेल को होमि.....हत्थापलेखनो.....नाभिहंत न उद्दि-
स्सकतं न निमंतणं सादियामि, सो न कुम्भीमुखा परिगण्हामि
न कलोपि मुखा परिगण्हामि, न एलकमंतरं न दण्डमंतरं न
मुसलमंतरं, न दिन्नं भुंजमानानं न गब्भनिया, न पायमानया, न
पुरिसंतर गताम्, न संकित्तिसु न यथ सा उपट्ठितो होति, न यथ
भक्खिका संड संड चारिनी, न मच्छं न मासं सुरं न मरेयं न थुसो-
दकं पिवामि सो एकागारिको वाहोमि, एकालोपिका, द्वागारिको
होमि द्वालोपिको—सत्तागारिको वा होमि सत्तालोपिको, एकाहं व
आहारं आहारेमि द्वीहिकं व आहारं आहारेमि—सत्ताहिकमि
प्राहारं आहारेमि । इति एयरूपं अद्धमासिकंपि परियाय मत्त-
भोजनानुयोगं अनुयुतो विहरामि.....केस्स मस्सुलोचको विहोमि

केसयस्सु लोचानुयोगं अनुयुत्तो—पावउद विन्दुमिह पिमे दया पञ्च पठिताहोति । माहं खुदके पाणे विसमगते संघातं आयादे स्संति ।

अर्थ—“मैं वस्त्ररहित रहा, मैंने आहार अपने हाथों से किया । न लाया हुआ भोजन लिया, न अपने उद्देश्य से बना हुआ लिया, न निमन्त्रण से जाकर भोजन किया, न वर्तन से खाया, न थाली में खाया, न घर की ड्योढ़ी में (within a threshold) खाया, न खिड़की से लिया, न मूसल से कूटने के स्थान से लिया, न गर्भिणी स्त्री से लिया, न बच्चे को दूध पिलाने वाली से लिया, न भोग करने वाली से लिया, न मलिन स्थान से लिया, न वहाँ से लिया जहाँ कुत्ता पास खड़ा था, न वहाँ से लिया जहाँ मक्खियाँ भिन-भिना रही थीं । न मछली, न मांस, न मदिरा, न सड़ा मांड खाया, न तुसका मैला पानी पिया । मैंने एक घर से भोजन किया सो भी एक ग्रास लिया, या मैंने दो घर से भोजन लिया दो ग्रास लिये । इस तरह मैंने सात घरों से लिया सो भी सात ग्रास, एक घर से एक ग्रास लिया । मैंने कभी दिन में एक दफा भोजन किया, कभी पन्द्रह दिन भोजन नहीं किया । मैंने मस्तक, डाढ़ी व मूछों के केशलोच किये । उस केशलोच की क्रिया को चालू रखा । मैं एक बूँद पानी पर भी दयालु रहता था । क्षुद्र जीव की हिंसा भी मेरे द्वारा न हो, ऐसा मैं सावधान था ।”

सो तत्तो सो सीनो एको मिसनके बने ।

नग्नो न च आगीं असीनो एकनापसुतो मुनीति ॥

अर्थ—इस तरह कभी गर्मी कभी ठंडक को सहता हुआ भयानक वन में नग्न (नंगा) रहता था । मैं आग से तापता नहीं था । मुनि अवस्था में ध्यान में लीन रहता था ।

महात्मा बुद्ध के मुख से निकले हुए उक्त वाक्य आचार्य देव-सेन के पूर्वोक्त कथन की पुष्टि करते हैं । नग्न रहना, अपने हाथों

में भोजन करना, अपने शिर, डाढ़ी-मूँछ के बालों का अपने हाथ से लोंच करना; ये समस्त क्रियाएँ जैनसाधु की हैं, जो कि प्रारम्भ में महात्मा बुद्ध करते रहे ।

परन्तु महात्मा बुद्ध को नग्न रहना, अपने बालों का अपने हाथों से लोंच करना (उखाड़ना), खड़े होकर अपने हाथों में भोजन करना आदि जैनसाधु की चर्या कठिन प्रतीत हुई । अतः वे न तो उस उच्च मार्ग के तपस्वी बनना चाहते थे और न निम्न श्रेणी (नीचे दर्जे) के जीवन गृहस्थाश्रम में फिर जाना चाहते थे । इस कारण उन्होंने जैनक्षुल्लक के समान मध्यम मार्ग अपने लिये निश्चित किया ।

तदनुसार उन्होंने लाल रँग के रँगे (गेरुआ) वस्त्र (धोती-दुपट्टा) पहनकर, गृहस्थों के घरों से भोजन लाने के लिए पात्र ग्रहण किया । इस तरह वस्त्रपात्र रखकर अपने नये कल्पित मध्यमार्गी साधुवेश में तपस्या करने लगे ।

सारांश यह है कि महात्मा बुद्ध ने प्रारम्भ में जैनसाधु का शिष्य बनकर नग्न साधु बनकर तपस्या की थी किन्तु उस नग्न चर्या को कठिन समझ कर उन्होंने कुछ दिन पीछे छोड़कर कुछ वस्त्रपात्र अपनाकर अपना नया साधुमार्ग बनाया जिसको वे मध्यम (बीच का) मार्ग समझते थे ।

कुछ समय पश्चात् भगवान् महावीर ने साधुदीक्षा लेकर तपस्या की और तदनन्तर वे सर्वज्ञ हो गये । उस समय की एक घटना का उल्लेख महात्मा बुद्ध के कहे अनुसार बौद्ध ग्रन्थ मज्झिमनिकाय में १६२-६३ पर लिखा है—

“एकेमिदाहं महानाम समयं राजगहे विहरामि गिज्झकूटे पव्वते । तेन खोपन समयेन संबहुला निगण्ठा इसिगिलियस्से

कालसिलायं उब्भत्थका होंति आसन परिक्खित्ता, ओपक्कमिका दुक्खातिप्पा कटुका वेदना वेदयन्ति । अथ खोर्हं महानाम सायण्ह समयं पटिसल्लाण वुड्ढितो येन इसिगिलि पस्सय काण सिला येन ते निग्गंठा तेन उप संकमिमम उपसंकमिता ते निग्गंठे एतदवोचमः । किन्हु तुम्हे आवुसो निग्गंठा उब्भट्टका आसनपट्टि-खिक्त्ता, ओक्कमिका दुक्खा तिप्पा कटुका वेदना वेदिययाति एवं बुत्ते महानाम ते निग्गंठा मं एतदवोचुं, निग्गंठो आवु सो नाठ-पुत्तो सब्बण सब्बदस्सावी अपरिसेसं ज्ञानदस्सनं परिजानाति चरतो च तिठ्ठतो च सुत्तस्स च सततं समितं ज्ञानदस्सनं पक्खु-पट्ठितंति, सो एवं आह अत्थि खो वो निग्गंठा पुब्बे पापं कम्मं कतं, तं इमाय कटुकाय दुक्करिकारिकाय निज्जेरथ यं पतेत्य एतरिह कायेन संवुता, वाचाय संवुता; मनसा संवुता; तं आयति पापस्स कम्मस्स अकरणां, इति पुराणानं कम्मानं तपसा कंति-भाभा, नवानं कम्मानं अकारण आयति अनवस्सवो, आयति अनवस्सवा कम्मख्खयो, कम्मख्खया दुक्खक्खयो, दुक्खक्खया वेदनाक्खयो वेदनाक्खया सब्बं दुक्खं निज्जिण्णां भविस्सति । त च पन अम्हाकं रुच्चति चेव खमति च तेन च अम्हा अत्ति मनाति ।”

अर्थात्—(महात्मा बुद्ध कहते हैं कि) हे महानाम ! मैं एक समय राजगृह के गृद्धकूट पर्वत पर घूम रहा था । तब ऋषिगिरि के समीप कालशिला पर बहुत से निर्ग्रन्थ (जैनसाधु) आसन छोड़कर उपक्रम कर रहे थे और तीव्र तपस्या में लगे हुये थे । मैं सायंकाल उनके पास गया और उनसे बोला ‘भो निर्ग्रन्थो ! तुम आसन छोड़कर उपक्रम कर ऐसी कठिन तपस्या की वेदना का अनुभव क्यों कर रहे हो ? जब मैंने उनसे ऐसा कहा तब वे साधु इस तरह बोले कि निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं, वे सब कुछ जानते हैं और देखते हैं ।

चलते, ठहरते, सोते, जगते सब हालतों में सदा उनका ज्ञान-दर्शन उपस्थित रहता है। उन्होंने कहा है कि निर्ग्रन्थो ! तुमने पहले पाप कर्म किये हैं उनकी इस कठिन तपस्या से निर्जरा कर डालो। मन वचन काय को रोकने से पाप नहीं बन्धता। और तप करने से पुराने पाप सब दूर हो जाते हैं। इस तरह नये पापों के न होने से कर्मों का क्षय होता है, कर्मों के क्षय से दुःखों का क्षय होता है, दुःखों के नाश से वेदना नष्ट होती है और वेदना के नाश से सब दुःख दूर हो जाते हैं। (तब बुद्ध कहते हैं) “यह बात मुझे अच्छी लगती है और मेरे मन को ठीक मालूम होती है।”

बौद्धशास्त्र मज्झिमनिकाय के ये वाक्य इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि महात्मा बुद्ध भगवान् महावीर के उपदेश को ठीक समझते थे, भगवान् महावीर की सर्वज्ञता का भी उन्हें ज्ञान था।

भगवान् महावीर के विषय में दीर्घनिकाय में प्रथम भाग के ४८वें पृष्ठ पर लिखा है—

निगण्ठो नातपुत्तो संधी चेव गणी चेव गणाचार्यो च ज्ञातो यसस्सी तित्थकरो साधुसम्मतो बहुजनस्स रत्तस्सू चिर पव्वजितो अद्दगतो वयो अनुप्पता ।

यानी—निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) संघ के नेता हैं, गणाचार्य हैं, दर्शनविशेष के प्रणेता हैं, विशेष विख्यात हैं, तीर्थंकर हैं, बहुत मनुष्यों द्वारा पूज्य हैं, अनुभवशील हैं। बहुत समय से साधुचर्या करते हैं, और अधिक वय वाले हैं।

Nattputta is all knowing and seeing possessing an infinite knowledge.

—*Majhima Nikaya I. P. 92-93*

यानी—मज्झिमनिकाय में महात्मा बुद्ध कहते हैं कि—
नाथपुत्र (भगवान् महावीर) सब कुछ जानते हैं, समस्त
पदार्थों को देखते हैं, उनका ज्ञान असीम है ।

इस प्रकार महात्मा बुद्ध स्वयं भगवान् महावीर को सर्वज्ञ
सर्वदर्शी मानते थे ।

मेजर जनरल जे० सी० आर० फर्लॉन्ग (Forlong) F. A.
B. E., F. R. A. S., M. A. I. आदि सन् १८९७ में प्रकाशित
अपनी पुस्तक साइन्स आफ कम्पैरेटिव रिलीजन्स के १९वें पृष्ठ
पर लिखते हैं—

It is clear that the Gotam of early Tibetans,
Mangols and Chinese must have been a Jain, for the
latter says he lived in the 10th and 11th centuries B. C.
Tibetans say he was born in 916, became a Budha in
881, preached from his 35th year and died in 831 B. C.
which closely corresponds with the saintly Parsva.

यानी—यह बात स्पष्ट है कि प्राचीन तिब्बती जनता का
तथा मंगोल चीनी लोगों का गौतम कोई 'जैन' होना चाहिये
क्योंकि चीनी कहते हैं कि वह ईसवी पूर्व १० वीं तथा ११ वीं
शताब्दी में था । तिब्बत वाले कहते हैं कि वह ईसवी सन् से
९१६ वर्ष पूर्व जन्मा था, ८८१ (ई० पूर्व) में बुद्ध (पूर्ण ज्ञानी)
हुआ, ३५ वें वर्ष से उसने धर्मोपदेश दिया तथा ई० पूर्व ८३१
में उसका निर्वाण हुआ । उनका यह कथन पार्श्वनाथ साधु से
लगभग मिल जाता है ।

इस प्रसिद्ध इतिहास-लेखक विद्वान की खोज से यह प्रमा-
णित होता है कि तिब्बत, चीन, मंगोल में गौतम बुद्ध से पहले
भगवान् पार्श्वनाथ की मान्यता थी ।

डा० ए० गिरनाट पेरिस लिखते हैं—

जैनधर्म और बौद्धधर्म की प्राचीनता के संबंध में मुकाबला करने पर जैनधर्म बौद्धधर्म से वास्तव में बहुत प्राचीन है मानव समाज की उन्नति के लिये जैनधर्म में सदाचार का बड़ा मूल्य है। जैनधर्म एक मौलिक स्वतंत्र और नियमित सिद्धान्त है।

‘भारतीय दर्शन’ पृष्ठ नं० १८८ पर डा० बलदेव उपाध्याय, हिन्दू विश्वविद्यालय काशी लिखते हैं—

‘ऐतिहासिक गवेषणा के अनुसार बुद्धधर्म का उदय जैनधर्म के अनन्तर हुआ। बौद्ध ‘निकायों’ में अन्तिम जैन तीर्थंकर नाथपुत्र (भगवान् महावीर) के नाम, सिद्धान्त तथा निर्वाण के उल्लेख अनेक स्थलों पर पाये जाते हैं।’

पूर्ववर्ती २३ बुद्ध

बौद्ध ग्रन्थों में वर्णन मिलता है कि गौतम बुद्ध से पहले २३ बुद्ध और हो गये हैं किन्तु उन २३ बुद्धों के नाम धाम आदि का उल्लेख उनमें नहीं पाया जाता।

प्रतीत होता है कि गौतम बुद्ध से पहले जो भगवान् ऋषभनाथ, अजितनाथ २३ तीर्थंकर हुए हैं, उन्हीं २३ तीर्थंकरों को गौतम बुद्ध ने ‘बुद्ध’ शब्द से उच्चारण किया है। दर्शन सार ग्रन्थ के लेखानुसार गौतम बुद्ध ने २३वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायी पिहितस्त्रव मुनि से दीक्षा ग्रहण की थी और कुछ दिनों तक वे जैनसाधु के रूप में (अपने कहे अनुसार) तपस्या करते रहे थे।

अमरकोष ग्रन्थ के १३वें श्लोक में जिन, बुद्ध, अर्हन्त पर्यायवाची शब्द बतलाये गये हैं।

(४५)

सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः ।**समन्तभद्रो भगवान्मारजिल्लोकजिज्जिनः ॥१३॥**

यानी — सर्वज्ञ, सुगत, बुद्ध, धर्मराज, तथागत, समन्तभद्र, भगवान्, मारजित्, लोकजित्, ये सब पर्यायवाची (एक व्यक्ति के) वाचक शब्द हैं ।

तदनुसार गौतम बुद्ध से पहले जो २३ बुद्ध होने की वार्ता बौद्ध ग्रन्थों में है उसका अभिप्राय भगवान् ऋषभनाथ से लेकर गौतम बुद्ध के दीक्षागुरु (शिष्य परम्परा की अपेक्षा) भगवान् पार्श्वनाथ तक २३ बुद्धों या जिनेन्द्रों से है ।

इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया के ५४वें पृष्ठ पर लिखा है —

‘यह निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि बौद्धधर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध के पहले जैनों के २३ तीर्थंकर हो चुके हैं ।’

बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति ने जैन तीर्थंकरों की सर्वज्ञता स्वीकार करते हुए न्यायविन्दु ग्रन्थ के अ० ३ में लिखा है —

यः सर्वज्ञ आप्तो वा सज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान् ।

यथा ऋषभवर्धमानादिरिति ।

यानी — जो सर्वज्ञ या आप्त हुआ है उसीने ज्ञान आदि का उपदेश दिया है । जैसे ऋषभ, वर्धमान (महावीर) आदि ।

इससे अनुमान है कि ऋषभनाथ आदि २३ तीर्थंकरों को ही २३ बुद्ध माना गया है ।

महात्मा यीशु

इस समय जिस ईसाई मत के अनुयायियों की संख्या संसार में सबसे अधिक पाई जाती है, उस मत के प्रवर्तक महात्मा यीशु

(४६)

(जिनको ईसा, क्राइस्ट आदि भी कहते हैं) ने अरब में सबसे पहले अपने मत का प्रचार किया था। यहूदियों का उस समय प्राबल्य था। यहूदियों ने ईसा द्वारा नवीन धर्म का प्रचार होता देख हज़रत ईसा को पकड़कर प्राणदण्ड दिया। तदनुसार यीशु को लकड़ी के क्रॉस पर लटकाकर मार दिया गया।

मरते समय ईसा ने ये शब्द कहे 'तलित कुमी, एलोई, एलोई लामा साषाक्थेन' (यूनानी) कि 'भगवन् ! इन लोगों (मुझे फाँसी देने वालों) को क्षमा कर देना क्योंकि ये बेचारे यह नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं ?'

महात्मा यीशु (ईसा) को फाँसी हो जाने के पश्चात् उनके अनुयायियों ने उनका मत यूरोप में बहुत विस्तार से फैलाया। यहूदियों ने ईसाको फाँसी पर चढ़ाया था। इस कारण ईसाई लोग यहूदियों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इसी कारण ईसाइयों ने पिछले समय में यहूदियों का बहुत विनाश करके ईसा की फाँसी का बदला यहूदी जनता से लिया।

महात्मा ईसा बाल्यावस्था से ही दयालु तथा संसार से विरक्त थे। जब वे तेरह वर्ष के हुए तब उनके परिवार वालों ने उनका विवाह करना चाहा किन्तु ईसा ने अपना विवाह न किया और घर से निकल पड़े। तदनन्तर वे ईरानी व्यापारियों के साथ सिन्ध के मार्ग से भारत में चले आये।

इतिहासवेत्ता श्रीयुत पं० सुन्दरलालजी ने 'हज़रत ईसा और ईसाई धर्म' नामक अपनी पुस्तक के १६२वें पृष्ठ पर बतलाया है—

भारत में आकर हज़रत ईसा बहुत समय तक जैनसाधुओं के साथ रहे। जैनसाधुओं से उन्होंने आध्यात्मिक शिक्षा तथा आचार विचार की मूल भावना प्राप्त की।

(४७)

हज़रत ईसा ने पैलेस्टाइन में आत्मशुद्धि के लिए जो ४० दिन का उपवास किया था वह पैलेस्टाइन प्रख्यात यहूदी विद्वान् जाजक्स के मतानुसार भारत का पालीताना जैन क्षेत्र है। पालीताना में ही ईसा ने जैन साधुओं से धार्मिक शिक्षा ग्रहण की थी।

हज़रत ईसा बहुत दिनों तक जैन साधुओं के शिष्य रहकर नैपाल चले गये, और वहाँ से हिमालय पर्वत के मार्ग से ईरान चले आये। ईरान में आकर उन्होंने धर्मोपदेश देना प्रारम्भ किया। पालीताना के नामानुसार ईरान में पैलिस्टाइन नगर बसाया गया जिसे आज फिलस्तीन भी कहते हैं। इसी नगर में ईसा को फाँसी दी गई थी।

हज़रत ईसा ने अपने प्रचार में तीन बातें लिखीं। १. आत्म-श्रद्धा या आत्मविश्वास (Self-reliance) यानी Know thyself-तुम अपने आत्मा को समझो। २. विश्व प्रेम (Universal love) तथा ३. जीव दया।

इन तीनों मान्यताओं पर जैनधर्म की छाप है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य का ही रूपान्तर या प्रकारान्तर महात्मा यीशु का सिद्धान्त है।

इस तरह हज़रत ईसा पर जैनधर्म और साधुओं का प्रभाव रहा।

नागेन्द्रनाथ वसु, एम. ए. द्वारा सम्पादित हिन्दी विश्वकोष पृ० १२८ पर लिखा है—

तिब्बत हिमिन मठ में रूसी पर्यटक नोटोविच ने एक पाली भाषा का ग्रन्थ प्राप्त किया था। उसमें स्पष्ट लिखा है कि वह

(४८)

(ईसा) भारत तथा भोट देश आकर अज्ञातवासमें रहा था और उसने जैन बौद्ध साधुओं के साथ साक्षात्कार किया था ।

यहूदी

अरबमें तीन धर्मों की स्थापना हुई—यहूदी, ईसाई, इस्लाम । इन तीनों में प्राचीन यहूदी धर्म है । इसके संस्थापक हज़रत मूसा थे । बाइबिल के प्राचीन पूर्व अंश को यहूदी प्रमाण मानते हैं, बाइबिल का उतना अंश उनका धर्मग्रन्थ है । हज़रत ईसा हज़रत मूसा से पीछे हुए हैं । उनका उपदेश बाइबिल का उत्तरार्द्ध अंश है । यहूदी धर्म का ही नवीन परिष्कृत रूप ईसाई धर्म है । इस्लाम धर्म की स्थापना ईसाई मत से लगभग ५०० वर्ष पीछे हज़रत मुहम्मद द्वारा हुई है ।

जिस तरह हज़रत ईसा ने भारत में आकर जैन साधुओं से शिक्षा ग्रहण की थी, उसी तरह यहूदी धर्म भी जैनधर्म से प्रभावित है ।

इतिहासलेखक मेजर जनरल जे० सी० आर० फर्लाङ्ग ने Science of Comparative Religions पुस्तक में पृष्ठ ४६ पर लिखा है ।

Aristotle saying (about 330 B. C.) that "Jews of Cale-syria, were Indian philosophers, called in the East calani and Ikswaku, or sugar-cane people and only Jews because they lived in India. These Jews (evidently Eass-enes) derived from Indian wonderful fortitude in life, diet and continence. They were in fact Jain-Budhist, whom the great Greek confounded with Syrians.

यानी — "अरस्तू (यूनानी विद्वान्) ने ईसवी सन् से ३३०० वर्ष पहले कहा है कि कालेसीरिया के निवासी यहूदी भारतीय

तत्त्वज्ञानी थे जिनको पूर्व में कालनी और इक्ष्वाकुवंशी कहते थे ।
 (जुदिया में रहने से वे 'यहूदी' कहलाते हैं) ये यहूदी प्रकट साधु
 थे जिन्होंने भारतीय तत्त्वज्ञानियों से जीवन में आश्चर्यकारक
 धैर्य और संयम की शक्ति प्राप्त की थी । वे वास्तव में जैनबौद्ध
 थे । जिनको बड़े यूनानियों ने भूल से सीरिया निवासी मान लिया ।

इस लेख से सिद्ध होता है कि प्राचीन यहूदी वास्तव में
 भारतीय इक्ष्वाकुवंशी जैन थे, जो जुदिया में रहने के कारण
 यहूदी कहे जाने लगे थे ।

मेजर जनरल जे० सी० आर० फर्लाङ्ग ने अपनी इसी पुस्तक
 के १४वें पृष्ठ पर लिखा है—

The selection of these short studies has enabled
 us to virtually embrace and epitomise all the faiths
 and religious ideas of the world as well as to lay base
 the deep-seated taproot from which they sprang, viz
 the crude yatism Jati or as cetism of thoughtful Jatis
 or Jains. Who in man's earliest ages have on all lands
 separated themselves from the world and dwelt upon
 pious motions in lonely forests and mountain-caves.

यानी—“इस कुछ पठन पाठन से हमने दुनियाँ के सब विश्वासों
 तथा विचारों का विमर्श किया है तथा वे भाव कहां से उठे उस
 मूल (जड़) को ढूँढ़ा है तो कहना होगा कि, वे भाव विचारशील
 जैन साधुओं से उठे हैं । ये जैन साधु अति प्राचीन काल से
 समस्त पृथ्वी पर रहते थे, जो संसार त्याग कर पवित्र उद्देश से
 एकान्त वनों व पर्वत की गुफाओं में रहा करते थे ।”

उपर्युक्त ऐतिहासिक कथन से प्रमाणित होता है कि यहूदी
 धर्म का मूलस्रोत जैनधर्म है ।

(५०)

मक्का में जैनधर्म

अरब देश में मक्का एक प्राचीन नगर है। यहाँ पर महात्मा ईसा से लगभग ५०० वर्ष पीछे हज़रत मुहम्मद द्वारा इस्लाम धर्म की स्थापना हुई है। इससे पहले यहाँ पर जैनधर्म का अस्तित्व था, ऐसा इतिहास से प्रमाणित होता है।

महाकवि रत्नाकर विरचित कन्नड़ काव्य 'भरतेश वैभव' में लिखा है—

लेक्क विल्लद मंदि गूडि नेगल दोंदु, टिक्के य नेत्ति गाडियोलु ।
मक्क देशद राय बंदु कै मुगि दोंदु, दिक्किनोलगे सार्दि विंदा ॥

यानी — मक्का में जब सम्राट् भरत गया तो वहाँ के राजा लोगों ने भरत का स्वागत किया।

भरत भगवान् ऋषभनाथ के पुत्र थे। यह तो बहुत प्राचीन बात है। अर्वाचीन इतिहास में भी यह उल्लेख पाया जाता है कि हज़रत मुहम्मद से पहले मक्का में जैन मन्दिर विद्यमान थे। मक्का में इस्लाम धर्म का प्रचार होने पर उन जैन मन्दिरों की मूर्तियाँ तोड़ दी गईं और उन मन्दिरों को मस्जिद बना लिया गया। इस समय जो वहाँ पर मस्जिदें हैं उनकी बनावट जैन मन्दिरों, बावन चैत्यालयों के अनुरूप है।

'फरग्यूसन शिल्पशास्त्री ने 'विश्व की दृष्टि में' पुस्तक के पृष्ठ २६ पर लिखा है—

“मक्का में भी मुहम्मद साहब के पूर्व जैन मन्दिर विद्यमान थे। किन्तु काल की कुटिलता से जब जैन लोग उस देश में न रहे तो महुआ (मधुपति) के दूरदर्शी श्रावक मक्के से वहाँ स्थित मूर्तियाँ ले आये थे, जो अपने नगर में प्रतिष्ठित करा ली, जो

(५१)

आज भी वहाँ विद्यमान हैं। मक्का की मस्जिदों की बनावट जैन मन्दिर जैसी है।”

इस्लाम धर्म केवल मूर्ति-अपूजक ही नहीं है अपितु वह प्रचण्ड मूर्ति-विध्वंसक भी है। इसी कट्टर सिद्धान्त के कारण मुहम्मद गौरी और औरंगजेब ने भारत में शक्ति प्राप्त करके हिन्दू मन्दिरों तथा हिन्दू देवी-देवताओं को बहुत तोड़ा-फोड़ा। ऐसी धर्मविद्वेषमयी प्रवृत्ति के कारण मक्का में भी जैन मूर्तियों को तोड़ा-फोड़ा गया और मन्दिरों को मस्जिद बना लिया गया।

जैनधर्म की प्राचीनता

संसार में सबसे पहले जिस धर्म का प्रचार हुआ था वह धर्म ‘जैनधर्म’ है, इस बात की साक्षी सभी ऐतिहासिक साधन देते हैं। संसार के प्राणियों को सांसारिक बन्धन से छुड़ाकर मुक्त होने का धर्मोपदेश सबसे पहले भगवान् ऋषभनाथ ने सर्वज्ञ बीतराग हो जाने के अनन्तर दिया।

आत्मशत्रुओं (काम-मद-मोह-राग-द्वेष आदि) के विजेता होने के कारण उनका नाम ‘जिन’ (जयति इति जिनः) या ‘जिनेश्वर’ प्रसिद्ध हुआ था, उनके नामानुसार उनके उपदेशित धर्म का नाम ‘जैनधर्म’ (जिनस्य अयं जैनः) प्रख्यात हुआ।

प्रसिद्ध पौराणिक शास्त्र भागवत इस बात की साक्षी देता है कि २४ अवतारों में मुक्तिमार्ग के उपदेष्टा भगवान् ऋषभदेव ही थे। अन्य अवतारों ने सांसारिक कार्य किये हैं, इसी कारण महात्मा शुकदेव ने अन्य अवतारों को नमस्कार न करके केवल ऋषभ अवतार को ही नमस्कार किया।

(५२)

इसके साथ ही इस ग्रन्थ से यह भी प्रमाणित होता है कि सबसे पहले धर्मोपदेशक भगवान् ऋषभनाथ ही हुए हैं। योग-चर्या की प्रवृत्ति भी भगवान् ऋषभनाथ से ही प्रारम्भ हुई, वे योगियों के आदि गुरु हैं। जैनधर्म उनसे ही प्रारम्भ हुआ, इस बात की साक्षी भी भागवत पुराण से मिलती है।

इसका सारांश यह है कि जगत् में सबसे पहले जैन धर्म का प्रचार हुआ था।

भारत में पहले जैन संस्कृति ही थी जिसे द्राविड़ सभ्यता भी कहा जाता है। मध्य एशिया से आर्य लोग भारत में आये। उसके बाद यहाँ वैदिक संस्कृति का प्रचार हुआ।

इस विषय पर विशद प्रकाश डालने के लिए हम यहाँ कुछ विद्वानों के अभिमत देते हैं।

भारत के भूतपूर्व अर्थ मंत्री श्री सर षण्मुखम् चेट्टी लिखते हैं—

“आर्यों के भारत आगमन के पूर्व भारत में जिस द्राविड़ सभ्यता का प्रचार हो रहा था, वह वास्तव में जैन सभ्यता ही थी। जैनसमाज में अब भी द्राविड़ संघ के नाम से एक अलग धार्मिक आम्नाय मिलती है।”

बम्बई उच्चन्यायालय (हाई कोर्ट) के न्यायाधीश श्री रांग-लेकर लिखते हैं —

“यह सत्य है कि जैनलोग वेदों को अपना धर्मग्रन्थ नहीं मानते। ब्राह्मणधर्म के समान वे मृतक क्रिया-कर्म, श्राद्ध एवं स्वर्गीय व्यक्ति के लिये नैवेद्य अर्पण करने की बात को स्वीकार नहीं करते हैं। उनकी यह धारणा है कि औरस अथवा दत्तक पुत्र से पिता की आत्मा को कोई भी आत्मिक श्रेय प्राप्त नहीं

होता । वे ब्राह्मणधर्म वाले हिन्दुओं से मृत व्यक्ति के शरीर-दाह अथवा गाड़ने के सिवाय अन्य क्रियाकांड न करने के कारण पृथक् हैं । आधुनिक ऐतिहासिक शोध से यह प्रकट हुआ है कि 'यथार्थ में ब्राह्मणधर्म का सद्भाव अथवा उनके हिन्दूधर्म रूप में परिवर्तित होने के बहुत पूर्व जैनधर्म इस देश में विद्यमान था ।' यह सत्य है कि देश में बहुसंख्यक हिन्दुओं के सम्पर्क-वश जैनियों में ब्राह्मणधर्म से सम्बन्धित अनेक रीति-रिवाज प्रचलित हो गये हैं ।"

मद्रास हाई कोर्ट के स्थानापन्न चीफ जज श्री कुमारस्वामी शास्त्री लिखते हैं —

'आधुनिक शोध ने यह प्रमाणित कर दिया है कि जैनधर्म हिन्दूधर्म से मतभिन्नता धारण करने वाला उपभेद नहीं है । जैनधर्म का उद्भव एवं इतिहास उन स्मृतिशास्त्रों तथा उनकी टीकाओं से बहुत प्राचीन है, जो हिन्दूकानून और रिवाज के लिए प्रामाणिक मानी जाती हैं । यथार्थ बात यह है कि जैनधर्म हिन्दू-धर्म के आधारस्तम्भ वेदों को प्रमाण नहीं मानता । यह उन अनेक क्रियाकांडों को अनावश्यक मानता है जिन्हें हिन्दू लोग आवश्यक समझते हैं ।'

वेदों के अध्येता, यूरोप के प्रसिद्ध संस्कृतभाषा के विद्वान प्रो० मोक्समूलर लिखते हैं —

'जैनधर्म हिन्दूधर्म से सर्वथा स्वतंत्र है ।'

श्री डा० एच०डी० संकलिया, एम०ए०, पीएच०डी० लिखते हैं —

'सृष्टि के आदि से जैनधर्म प्रचलित है । जैनों का अनेकान्त

(५४)

तो ऐसी चीज है कि उसे सबको मानना पड़ेगा और लोगों ने माना है ।'

मेजर जनरल जे०जी०आर० फर्लांग, एफ०आर०एस०ई० ने दी शार्ट स्टडीज इन साइन्स आफ कम्पैरेटिव रिलीजन (सन १८९७ ई० में प्रकाशित) पुस्तक में लिखा है —

(हिन्दी अनुवाद)

‘जैनधर्म का प्रारम्भकाल बतलाना असम्भव है । इस प्रकार भारतवर्ष का सबसे पहला धर्म जैनधर्म ही जान पड़ता है ।’

महामहोपाध्याय डा० सतीशचन्द्र, एम०ए०, पीएच०डी० सिद्धान्त महोदधि, प्रिंसिपल, संस्कृत कॉलेज कलकत्ता लिखते हैं—

‘जैनमत तब से प्रचलित हुआ है जब से संसार में सृष्टि का आरम्भ हुआ है । मुझे इसमें किसी प्रकार का उज्र नहीं है कि जैनधर्म वेदान्त आदि दर्शनों से पूर्व का है ।’

श्री कन्नोमलजी एम०ए०, सेशन जज, जनवरी १९२२ के थियोसोफिस्ट पत्र में लिखते हैं—

‘जैनधर्म भारत का ऐसा प्राचीन धर्म है कि जिसकी उत्पत्ति तथा इतिहास का पता लगाना एक बहुत ही दुर्लभ बात है ।’

जर्मनी के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ विद्वान् डाक्टर हर्मन जेकोबी, एम०ए०, पीएच०डी० लिखते हैं—

‘जैनधर्म सर्वथा स्वतंत्र धर्म है । मेरा विश्वास है कि वह किसी का अनुकरण नहीं है और इसलिए भारतवर्ष के तत्त्वज्ञान का और धर्मपद्धति का अध्ययन करने वालों के लिए वह बड़े महत्त्व की वस्तु है ।’

(५५)

श्री स्वा० विरूपाक्ष वडियर, धर्मभूषण पंडित, वेदतीर्थ विद्या-
निधि, एम०ए०, प्रोफेसर, संस्कृत कालेज इन्दौर चित्रमय जगत्
में लिखते हैं—

ईर्ष्या-द्वेष के कारण धर्मप्रचार को रोकने वाली विपत्ति के
रहते हुए भी जैनशासन कभी पराजित न हुआ, सर्वत्र विजयी
होता रहा है। अरहन्त देव साक्षात् परमेश्वरस्वरूप हैं। इसके
प्रमाण भी आर्यग्रन्थों में पाये जाते हैं। अरहन्त परमेश्वर का
वर्णन वेदों में भी पाया जाता है।

महामहोपाध्याय पंडित राममिश्रजी शास्त्री, प्रोफेसर, संस्कृत
कालेज बनारस कहते हैं—

‘जैनधर्म बहुत प्राचीन है।’

भारत के प्रधानमंत्री श्री पंडित जवाहरलाल नेहरू अपनी
पुस्तक ‘डिस्कवरी आफ इंडिया’ में लिखते हैं—

‘हिन्दू संस्कृति भारतीय संस्कृति का एक अंश है और जैन
तथा बौद्ध यद्यपि पूर्णतया भारतीय हैं परन्तु हिन्दू नहीं हैं।’

४ अगस्त १९३४ ईस्वी के बम्बई समाचार में प्रकाशित
हुआ है कि—

मंगोलिया और अमेरिका में एक समय जैनधर्म का बहुत
प्रचार था। और वहाँ जैनमन्दिरों के खण्डहर आज भी प्रचुरता से
पाये जाते हैं। यह लिखना अतिशययुक्त न होगा कि पूर्वोक्त प्रदेशों
में जैनधर्म का खूब प्रचार था।

यूरोप मध्य आस्ट्रिया हंगरी में भूकम्प के कारण भूमि पर
एकाएक परिवर्तनों को अवलोकन करते हुए बुडापेस्ट नगर में
एक अंग्रेज के बगीचे में भूमि से महावीर स्वामी की एक मूर्ति

हस्तगत हुई है जो बहुत प्राचीन है । इससे मानना पड़ता है वहाँ जैन लोगों की बहुत अच्छी बस्ती थी ।

भारत के गणनीय राजनैतिक नेता और अग्रगण्य विद्वान् लोकमान्य श्री बालगंगाधर तिलक ने अपने मराठी पत्र केसरी में जैनधर्म के विषय में जो विचार प्रकट किए उसका हिन्दी अनुवाद निम्नलिखित है—

जैनधर्म अनादि है । गौतम बुद्ध महावीर स्वामी के शिष्य थे । चौबीस तीर्थंकरों में महावीर अन्तिम तीर्थङ्कर थे । यह जैनधर्म को पुनः प्रकाश में लाये, अहिंसाधर्म व्यापक हुआ । इससे भी जैनधर्म की प्राचीनता जानी जाती है । पूर्वकाल में यज्ञ के लिये असंख्य पशुहिंसा होती थी, इसके प्रमाण मेघदूत काव्य तथा और ग्रन्थों से मिलते हैं । रन्तिदेव नामक राजा ने यज्ञ किया था, उसमें इतना प्रचुर पशुवध हुआ था कि नदी का जल खून से रक्त वर्ण हो गया था । उसी समय से नदी का नाम चर्मवती प्रसिद्ध है । पशुवध से स्वर्ग मिलता है, इस विषय में उक्त कथा साक्षी है । परन्तु इस घोर हिंसा का ब्राह्मणधर्म से विदाई ले जाने का श्रेय जैनधर्म को है । इस रीति से ब्राह्मणधर्म अथवा हिन्दूधर्म को जैनधर्म ने अहिंसाधर्म बनाया है ।

आजकल यज्ञों में पशुहिंसा नहीं होती, ब्राह्मण और हिन्दूधर्म में मांसभक्षण और मदिरापान बन्द हो गया, सो यह भी जैनधर्म का प्रताप है । जैनधर्म की छाप ब्राह्मणधर्म पर पड़ी है ।

बम्बई के भू० पू० राज्यपाल डाक्टर श्रीप्रकाशजी वीर १५-१ में लिखते हैं—

जैनधर्म और जैनसंस्कृति प्राचीन है । जैनधर्म का हमारे किसी न किसी विभाग में राष्ट्रीय जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव

है। जैनधर्म के साहित्यिक ग्रन्थों की भाषा स्वच्छ और सुन्दर है। साहित्य के साथ २ विशेष रूप से जैनधर्म ने आकर्षण किया है जो मानव को अपनी ओर खींचता है। जैनधर्म कला की आर्ट के नमूने देखकर आश्चर्य होता है। जैनधर्म ने सिद्ध कर दिया है कि लोक और परलोक के सुख की प्राप्ति अहिंसाव्रत से हो सकती है।

कलकत्ता यूनिवर्सिटी के वाइस-चान्सलर श्री डाक्टर कालीदासजी नाग लिखते हैं—

“जैनधर्म किसी खास जाति या सम्प्रदाय का धर्म नहीं है, बल्कि यह अन्तर्राष्ट्रीय, सार्वभौमिक तथा लोकप्रिय धर्म है। जैन तीर्थंकरों की महान् आत्माओं ने संसार के राज्यों के जीतने की चिन्ता नहीं की थी। राज्यों को जीतना कुछ ज्यादा कठिन नहीं है। जैन तीर्थंकरों का ध्येय राज्य जीतने का नहीं, बल्कि स्वयं पर विजय प्राप्त करने का है। यही एक महान् ध्येय है, और मनुष्यजीवन की सार्थकता इसीमें है। लड़ाइयों से कुछ देर के लिये शत्रु दब जाता है, दुश्मनी का नाश नहीं होता। हिंसक युद्धों से संसार का कल्याण नहीं होता। यदि किसी ने आज महान् परिवर्तन दिखाया है तो वह अहिंसा सिद्धान्त ही है। अहिंसा सिद्धान्त की खोज और प्राप्ति संसार की समस्त खोजों और प्राप्तिओं से महान् है। मनुष्य का स्वभाव है नीचे की ओर जाना परन्तु जैन तीर्थंकरों ने सर्वप्रथम यह बताया कि अहिंसा का सिद्धान्त मनुष्य को ऊपर उठाता है।

आज के संसार में सबका यही मत है कि अहिंसा सिद्धान्त का महात्मा बुद्ध ने आज से २५०० वर्ष पहले प्रचार किया। किसी इतिहास के जानने वाले को इस बात का बिल्कुल ज्ञान नहीं है

(५८)

कि महात्मा बुद्ध से करोड़ों वर्ष पहले एक नहीं बल्कि अनेक जैन तीर्थंकरों ने इस अहिंसा सिद्धान्त का प्रचार किया है। जैनधर्म बुद्धधर्म से करोड़ों वर्ष पहले का है। मैंने प्राचीन जैनक्षेत्रों और शिलालेखों के स्लाइड्स तैयार करके इस बात को प्रमाणित करने का यत्न किया है कि जैनधर्म प्राचीन धर्म है, जिसने भारतीय संस्कृति को बहुत कुछ दिया।”

इस तरह जैनधर्म संसार का सबसे प्राचीन धर्म है। अतः जितने भी प्रचलित जैनधर्म हैं वे थोड़े बहुत अंश में जैनधर्म से अवश्य प्रभावित हुए हैं।

धर्म का वास्तविक रूप ‘अहिंसा’ है जो कि विश्व का मूल आधार है। अहिंसा के बिना कोई भी प्राणी, वह चाहे मनुष्य हो या पशु-पक्षी, जीवित नहीं रह सकता। उस अहिंसा का विकास, स्पष्टीकरण जैसा जैनधर्म में मिलता है वैसा अन्य किसी धर्म में नहीं मिलता।

अतः सिद्धान्त की दृष्टि से भी जैनधर्म विश्व का सर्व हित-ङ्कर व्यापक धर्म है।

प्राकृत भाषा

यह बात पहले लिखी गई है कि कर्मयुग (कर्मभूमि) के आदि प्रवर्तक भगवान् ऋषभनाथ हुए हैं, उन्होंने सबसे पहले जनता को कृषि, व्यापार, शिल्प आदि कलाएँ सिखलाई और उन्होंने अक्षरलिपि तथा अंकलिपि की शिक्षा दी। अक्षरलिपि उन्होंने अपनी बड़ी पुत्री ब्राह्मी को सिखाई थी, अतः उस अक्षरलिपि का नाम ब्राह्मीलिपि प्रचलित हुआ। ब्राह्मीलिपि संसार की सबसे प्राचीन लिपि मानी गई है।

भगवान् ऋषभनाथ के समय समस्त जनता की भाषा एक ही थी, परन्तु कालान्तर में विभिन्न देशों की अपेक्षा वह भाषा अनेक रूप की हो गई । क्योंकि भिन्न-भिन्न देशों का वातावरण भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है । उसका प्रभाव, रहन-सहन पहनाव-उढ़ाव तथा शब्दोच्चारण पर भी पड़ा करता है । इस कारण प्रारम्भ में मनुष्यों की एक भाषा होते हुए भी विभिन्न देशों में वह भाषा कालान्तर में एक-सी न रह सकी ।

भगवान् ऋषभनाथ आदि तीर्थंकरों का उपदेश समस्त जनता के समक्ष में आ जाने वाली भाषा में हुआ करता था । उनके उपदेश को सुनने वाला प्रत्येक व्यक्ति उनकी हितमयी वाणी को सुगमता से हृदयङ्गम कर लेता था । अतः उनकी भाषा 'प्राकृत' यानी स्वाभाविक हुआ करती थी ।

जैनों का प्रसिद्ध सर्वोत्तम मन्त्र अनादि समय का प्रचलित मन्त्र है, उस मन्त्र में किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है । उसमें पूज्य आराध्य अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु, इन पाँच परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है । यह अनादिकालीन मन्त्र उसी जनसाधारण की प्राकृत भाषा में है ।

एमो अरिहंताणं (अर्हन्तों को नमस्कार)

एमो सिद्धाणं (सिद्धों को नमस्कार)

एमो आयरियाणं (आचार्यों को नमस्कार)

एमो उवज्झायाणं (उपाध्यायों को नमस्कार)

एमो लोए सव्वसाहूणं (जगत् के सब साधुओं को नमस्कार)

इस तरह यह पंचपद-रूप एमोकार मन्त्र असंख्य वर्षों से प्रचलित अनादिकालीन मन्त्र है । इस मन्त्र की भाषा प्राकृत है ।

इस मन्त्र की भाषा से प्राकृत भाषा की प्राचीनता आँकी जा सकती है क्योंकि भगवान् महावीर से भी पहले के २३ तीर्थंकरों के समय भी यह मन्त्र इसी रूप में प्रचलित रहा है ।

भगवान् महावीर के समय में भी भारत की जनभाषा प्राकृत ही थी ।

भाषा-अभिज्ञ विद्वानों का मत है—

भारतवर्ष में प्राचीन समय में जो जनसाधारण की भाषा प्रचलित थी , उसका नाम 'प्राकृत' है ।

प्राकृत शब्द का अर्थ 'स्वाभाविक' है । यानी— विना किसी परिश्रम या व्याकरण आदि की कठिनाई के स्वाभाविक रूप से साधारण जनता जिस भाषा को बोलती हो उसे 'प्राकृत' भाषा (प्राकृत यानी— स्वभाव से बोलचाल में आई हुई) कहते हैं । प्रकृति और स्वभाव; ये दोनों शब्द पर्यायवाची (एकार्थवाचक) हैं । अतः अपने अर्थानुसार प्राचीन भारत में जनसाधारण की भाषा 'प्राकृत' थी ।

वह प्राकृत भाषा विभिन्न प्रान्तों तथा देशों के अनुसार कुछ परिवर्तित हुई, अतः मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, आवन्ती आदि नाम भी उस प्राकृत भाषा के रखे गये । जैसे एक वृक्ष की अनेक शाखायें होती हैं उसी तरह एक ही प्राकृत भाषा के विभिन्न देशों के अनुसार विभिन्न नाम पड़ गये और उसके रूप तथा उच्चारण में भी कुछ थोड़ा अन्तर आ गया ।

आज से २५०० वर्ष पहले जैनधर्म के २४ वें तीर्थंकर भगवान् महावीर का उपदेश समस्त स्त्री-पुरुषों को सुगमता से समझ में आने वाली प्राकृत भाषा में हुआ जिसमें मागधी प्राकृत

(६१)

की मुख्यता थी। भगवान् महावीर की वाणी 'अर्द्ध मागधी' भाषामयी थी, उस वाणी में मागधी भाषा तथा अन्य समस्त जीवों के समझ लेने योग्य शब्द विद्यमान थे।

महात्मा बुद्ध ने भी अपना उपदेश उसी प्राकृत भाषा में जन-साधारण को दिया, उसका नाम 'पाली' प्रसिद्ध हुआ। त्रिपिटक बौद्ध ग्रन्थ उसी पाली नामक प्राकृत भाषा में लिखे गये हैं।

भगवान् महावीर के निर्वाण हो जाने पर भगवान् महावीर का तात्त्विक उपदेश मौखिक रूप से उनकी शिष्य परम्परा (ऋषि परम्परा) द्वारा प्राकृत भाषा में चलता रहा।

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् लगभग ५०० वर्ष पीछे जैन ऋषियों ने मौखिक पठन-पाठन के साथ ग्रन्थरचना का भी प्रारम्भ किया। सबसे पहला ग्रन्थ श्री गुणधर आचार्य ने 'कसाय पाहुड़' और श्री पुष्पदन्त भूतवली आचार्य ने 'षट् खण्ड आगम' प्राकृत भाषा में ही बनाया।

भाषा का संस्कार

जनसाधारण जो कुछ परस्पर बातचीत करता है, वह भाषा कहलाती है। उस जनसाधारण की भाषा के प्रयोग के लिये नियम बना देना 'व्याकरण' है, जिससे उस भाषा में अशुद्धियाँ, त्रुटियाँ न घुसने पावें। यानी—भाषा की शुद्धि या संस्कार के लिये व्याकरण बनाया जाता है अतः शुद्ध भाषाभाषी शिक्षित व्यक्तियों को व्याकरण की निर्धारित रेखाओं में लिखना बोलना पड़ता है।

यह सब कुछ है परन्तु जनसाधारण यदि किसी अशुद्ध उच्चारण को भी व्यापक रूप से अपना लेता है, तब उस अशुद्धि

(६२)

को भी शुद्ध घोषित करने के लिये व्याकरण को बाध्य होना पड़ता है, और उस घोषणा के अनुसार नया नियम व्याकरण को बनाना पड़ता है ।

एक महान् वैदिक ऋषि का नाम जनता ने 'विश्वामित्र' रख दिया । किन्तु संस्कृत की सन्धि के अनुसार (विश्व+अमित्र=विश्वामित्र) विश्वामित्र शब्द का अर्थ 'समस्त जगत् का शत्रु' होता है जो कि उस ऋषि को अनादरसूचक अपशब्द (गाली) समान है । अतः संस्कृत व्याकरणकार पाणिनि को 'विश्वामित्र' शब्द का अर्थ 'जगत् का मित्र' ठहराने के लिये यानी जनता के अशुद्ध उच्चारण को शुद्ध घोषित करने के लिये एक नया सूत्र बनाना पड़ा ।

शेर सदा अन्य निर्बल प्राणियों की हिंसा किया करता है । अतः मूलधातु के अनुसार उसका नाम 'हिंस' होना चाहिये, परन्तु जनता उसको 'सिंह' शब्द से उच्चारण कर रही थी, इस कारण व्याकरण को यह शब्द 'हिंस' के बजाय उलटे रूप में 'सिंह' मानने के लिये बाध्य होना पड़ा, इसके लिये उसने लिखा 'सिंहे वर्णविपर्ययः ।'

पृषत्+उदर इन दो शब्दों को मिलकर सन्धि के नियमों के अनुसार 'पृषदुदर' (पतली कमर वाला या पतले पेट वाला) शुद्ध रूप में होना चाहिए, परन्तु जनता ने 'पृषोदर' शब्द अपना लिया तब व्याकरण को जनता की इस अशुद्धि को भी शुद्ध ठहराने के लिये नया नियम बनाना पड़ा ।

इस तरह व्याकरण को भी जनता की व्यापक बोलचाल की ओर चलने के लिये बाध्य होना पड़ता है ।

ऋक्, यजुः, साम और अथर्व; ये चार वेद विभिन्न वैदिक

(६३)

ऋषियों द्वारा बनाये गये संस्कृत गीतों का संग्रह रूप है जिन्हें 'वेदमन्त्र' कहा जाता है। उन वेदमन्त्रों की भाषा संस्कृत व्याकरण के अनुसार नहीं है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो संस्कृत व्याकरण के निर्धारित नियमों के अनुसार वे वेदमन्त्र शुद्ध नहीं हैं। परन्तु चूँकि वे जनता में श्रद्धा आदर के साथ अपना लिये गये, अतः पाणिनीय व्याकरण ने वेदों की संस्कृत को सही ठहराने के लिये कुछ अपवाद रूप नियम बना दिये।

हिन्दी में प्रचलित शब्द 'उपरोक्त' गलत (अशुद्ध) है। उसका शुद्ध रूप 'उपर्युक्त' है, परन्तु जनता द्वारा अपना लेने के कारण 'उपरोक्त' शब्द भी चल पड़ा।

अंग्रेजी भाषा में तो हजारों शब्दों के उच्चारण कुछ हैं और उनमें प्रयुक्त अक्षर और कुछ हैं, अंग्रेजी व्याकरण उनके लिये कोई भी नियम नहीं बना सका। परन्तु क्योंकि अंग्रेजीभाषी जनता उन अनियमित शब्दों के अक्षरों को अपनाये हुए है अतः उस अनियमित उच्चारण तथा लेखन को सही (शुद्ध) माना जाता है।

इस तरह भाषा पर जिस व्याकरण के द्वारा संस्कार किया जाता है, वह व्याकरण भी जनता की प्रवृत्ति के सामने झुक कर अशुद्धि को भी 'संस्कार' का नाम दे डालती है।

प्राकृत भाषा जनसाधारण की भाषा थी किन्तु वैदिक विद्वानों को वह पसंद न आई अतः उन्होंने उस प्राकृत भाषा को वेदमन्त्रों की भाषा में ढालने का उद्योग किया। तदनुसार व्याकरण बनाकर उस प्राकृत भाषा का नया संस्कार कर डाला। अपने प्रयत्न के अनुसार उसका नया नाम भी 'संस्कृत' रख दिया। उस नवीन भाषा में (संस्कृत में) सब तरह के ग्रन्थ बना डाले, उस महत्त्व-

पूर्ण साहित्य के कारण जनता का उस ओर आकर्षण हुआ और उसने उस साहित्यिक नवीन भाषा (संस्कृत) को भी आदर और रुचि के साथ अपना लिया ।

इस तरह प्राचीन जनसाधारण की भाषा प्राकृत का रूप बदल कर संस्कृत भाषा का नया ढाँचा बना गया ।

रुद्रट विरचित काव्यालंकार की व्याख्या करते हुए नमिसाधु ने लिखा है—

प्राकृतेति—सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादेरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः । तत्र भवं सैव वा प्राकृतम् । ‘आरिसवयणे सिद्धं देवाणं अद्धमग्गहा वाणी’ इत्यादिवचनाद्वा प्राक् पूर्वं कृतं प्राक्कृतं बालमहिलादिसुबोधं सकलभाषानिबन्धनभूतं वचनमुच्यते । मेघनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूपं, तदेव च देशविशेषात् संस्कारकरणाच्च समासादितविशेषं सत् संस्कृताद्युत्तरविभेदानाप्नोति । अत एव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्टं, तदनु संस्कृतादीनि पाणिन्यादि-व्याकरणोदितमशब्दलक्षणैः संस्करणात् संस्कृतमुच्यते ।

२-१२

अर्थात् जो समस्त स्त्री-पुरुषों की व्याकरण आदि के संस्कार से रहित स्वाभाविक बोलचाल की क्रिया है, उसे प्रकृति कहते हैं, उस प्रकृति से उत्पन्न हुई अथवा उस प्रकृतिरूप ही जो भाषा है वह प्राकृत भाषा है । ‘आर्षं वचन’ से सिद्ध है कि देवों की (तीर्थंकर की) वाणी अर्द्धमागधी भाषा थी । इत्यादि प्रमाण से यह बात प्रमाणित होती है कि जो भाषा पुरातन समय में संस्कृत भाषा से पहले प्रयोग में आती रही, जिसको बालक, स्त्री आदि अच्छी तरह समझते रहे, और जो समस्त भाषाओं का मूल कारण रही, उसका नाम ‘प्राक्कृत’ (पहले बनी भाषा) है ।

(६५)

जो कि बादलों से बरसे हुए जल के समान पहले एक ही रूप थी किन्तु बाद में वही प्राकृत भाषा देशों की विशेषता से तथा विशेष संस्कार होने से 'संस्कृत' आदि उत्तर भेदों को प्राप्त हुई । इसी कारण शास्त्रकार (रुद्रट) ने प्राकृत भाषा को पहले निर्दिष्ट किया है । तदनन्तर पाणिनि आदि व्याकरणों के द्वारा व्याकरण के संस्कार से जो भाषा बनी, वह 'संस्कृत' भाषा है ।

रुद्रट के जिस श्लोक की व्याख्या में उक्त व्याख्या नमिसाधु ने लिखी है वह श्लोक निम्नलिखित है—

प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च सूरसेनी च ।

पण्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ॥

अर्थ—प्राकृत, संस्कृत, मागधी, पिशाचभाषा, सूरसेनी और छठी देशविशेष से अपभ्रंश भाषा है ।

इसी श्लोक की टीका करते हुए नमिसाधु ने प्राकृत भाषा की प्रथमता या प्राचीनता सिद्ध की है ।

भारतीय विद्या निबन्ध संग्रह में लिखा है—

तत्र सकलबाल—गोपाङ्गनाहृदय—संग्राही निखिलजगज्ज-
न्तूनां शब्दशास्त्राकृतविशेषसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः सम-
स्तेतरभाषाविशेषाणां मूलकारणत्वात् प्रकृतिरिव प्रकृतिः । तत्र
भवा सैव वा प्राकृता । सा पुनर्मैघनिमुक्तजलपरम्परेव एकरूपापि
तत्तद्देशादिविशेषात् संस्कारकरणाच्च भेदान्तरानाप्नोति । अत
इवमेव शूरसेनवास्तव्यजनता किंचिदारोपितनिशेषलक्षणा भाषा
शौरसेनी भण्यते (पृ० २२३)

अर्थ—समस्त बाल गोपाल स्त्रियों को रुचिकर, व्याकरण के संस्कार से रहित, समस्त संसार के मनुष्यों की जो स्वाभाविक

(६६)

सरल बोलचाल वाली भाषा है, जो कि समस्त दूसरी भाषा की मूल कारण होने से प्रकृति के समान स्वयं प्रकृति है, जो प्रकृति से बनी अथवा वही प्रकृति 'प्राकृत भाषा' है। वह बाद से गिरे हुए जल के समान एक रूप है किन्तु भिन्न २ देशों सम्बन्ध से तथा व्याकरण आदि के संस्कार से वह प्राकृत भाषा संस्कृत आदि अनेक रूप हो गई है। शूरसेन देश निवासी जन द्वारा आरोपित कुछ विशेष लक्षणों से वही प्राकृत भाषा शौरसेनी कहलाती है।

श्री हण्टर महोदय ने हिन्दुस्तान के संक्षिप्त इतिहास लिखा है—

भारतीय मूलभाषा प्राकृत है और प्राकृत भाषा प्राचीन सब भाषाओं की जननी है।

उस प्राकृत भाषा का रूप कालान्तर में विभिन्न देशों अनुसार अनेक प्रकार बन गया। पं० बररुचि ने अपने "प्राकृत प्रकाश" में उसके चार भेद बतलाये हैं—१ शौरसेनी, २ मागधी, ३ पैशाची, ४ महाराष्ट्री।

रुद्रट ने ७ भेद गिनाये हैं—१ मागधी, २ आवन्ती, ३ प्राची, ४ शूरसेनी, ५ अर्द्धमागधी, ६ वाल्हीकी, ७ दाक्षिणात्य।

मार्कण्डेय ने "प्राकृत सर्वस्व" में मूलभेद ४ और उत्तरभेद १६ माने हैं। तदनुसार—१ भाषा, २ विभाषा, ३ अपभ्रंश और ४ पैशाची ये मूल भेद बतलाये हैं।

१ महाराष्ट्री, २ शौरसेनी, ३ प्राची, ४ आवन्ती, ५ मागधी, ६ शकारी, ७ चांडाली, ८ शाबरी, ९ आभिरिका, १० टाकरी, ११ नागर, १२ ब्राचड, १३ उपनागर, १४ कैकय, १५ शौरसेनी, १६ पाञ्चाल। ये १६ अवान्तर भेद लिखे हैं।

(६७)

इनमें से प्रारम्भ के ५ भेद प्राकृत के, ६ से १० तक विभाषा प्राकृत के, ११ से १३ तक अपभ्रंश के और १४ से १६ तक पैशाची के भेद बताये हैं।

‘प्राकृतसूत्रवृत्ति’ में त्रिविक्रम ने प्राकृत भाषा के ६ भेद लिखे हैं—

१ शौरसेनी, २ मागधी, ३ पैशाची, ४ महाराष्ट्री, ५ चूलिका पैशाची और ६ अपभ्रंश।

ईसवी सन् से पूर्व तीसरी शताब्दी में लिखे गये मौर्य सम्राट् अशोकवर्द्धन के जो अनेक शिलालेख पाये जाते हैं उनकी भाषा प्राकृत है।

इन सब बातों से यही प्रमाणित होता है कि भारतवासियों की पुरातन भाषा प्राकृत है।

प्राकृत भाषा का संस्कार करके जो भाषा बनाई गई उसका नाम ‘संस्कृत’ रक्खा गया। ‘संस्कृत’ शब्द का अर्थ ‘संस्कार किया हुआ’ है। जिस भाषा का संस्कार करके नवीन भाषा (संस्कृत) बनाई गई वह भाषा प्राकृत थी।

संस्कृत भाषा का व्याकरण बना, तथा संस्कृत भाषा में तार्किक आदि समस्त विषयों के ग्रंथ बनाये गये, इस तरह संस्कृत भाषा का बहुत विकास हुआ।

वैदिक सम्प्रदाय ने केवल संस्कृत भाषा को अपनाया, अतः किसी भी वैदिक विद्वान् का बनाया हुआ कोई प्राकृत भाषा का ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। किंतु जैन संप्रदाय ने किसी भी भाषा से अरुचि प्रकट नहीं की, अतएव जैन विद्वानों ने भारतीय मूल-भाषा प्राकृत में भी विपुल एवं महत्वपूर्ण साहित्य की रचना की

(६८)

तथा संस्कृत भाषा में भी व्याकरण, साहित्य, तर्क, छन्द, अलङ्कार, कोष, वैद्यक, ज्योतिष, गणित आदि समस्त विषयों पर अनुपम ग्रंथ रचना की ।

दसवीं शताब्दी के महान् विद्वान् ऋषि श्री वीरसेन आचार्य ने संस्कृत तथा प्राकृत भाषा में लगभग पौने दो लाख श्लोक प्रमाण धवल, जयधवल, महाधवल नामक सैद्धांतिक व्याख्यान ग्रन्थों का निर्माण किया । संसार में इतना विशाल साहित्य अतक किसी भी विद्वान् ने किसी भी भाषा में नहीं बनाया ।

हां, तो प्राकृत भाषा को संस्कार करके संस्कृत भाषा बनाई गई । संस्कृत भाषा का उपयोग साहित्य निर्माण के लिये तो होता रहा किन्तु वह जनसाधारण की बोलचाल की भाषा बन सकी, क्योंकि संस्कृत व्याकरण के अनुसार शुद्ध संस्कृत भाषा का सुगमता के साथ बोलना जैसा इस समय कठिन प्रतीत होता है, ऐसा ही प्राचीन समय में भी रहा । संस्कृत भाषा के विद्वान् ही परस्पर संस्कृत भाषा में बोल सकते थे, जनसाधारण संस्कृत भाषा में नहीं बोल सकता था । अतः जनसाधारण की भाषा प्राकृत भाषा ही बनी रही ।

कालक्रम से प्राकृत भाषा का रूप स्वल्पित हुआ और बदलकर अपभ्रंश भाषा के रूप में होगई । महाराष्ट्र, पांचाल (पंजाब), शूरसेन आदि देशों में प्राकृत का विभिन्न रूप हो गया था ।

अपभ्रंश भाषा में भी जैन विद्वानों ने अनेक महान् ग्रन्थों की रचना की ।

अपभ्रंश भाषा के आद्य कवि स्वयम्भू हैं । इन्होंने पउम चरित, रिठुणेमि चरित, पंचमि चरित, स्वयम्भू छन्द, ये चार ग्रन्थ बनाये हैं ।

(६६)

अन्तर्राष्ट्रीय प्रख्यात विद्वान् श्री राहुल सांकृत्यायन अपने 'हिन्दी काव्य धारा' ग्रन्थ में लिखते हैं—

“जैनों ने अपभ्रंश-साहित्य की रचना और उसकी सुरक्षा में सबसे अधिक काम किया। वह ब्राह्मणों की तरह संस्कृत के अंधभक्त भी नहीं थे।

अतएव जैनों ने देश-भाषा में कथा-साहित्य की सृष्टि की, जिसके कारण स्वयम्भू और पुष्पदन्त जैसे अनमोल अद्वितीय कविरत्न हमें मिले। उस साहित्य की रक्षा के लिए हम और हमारी अगली पीढ़ियाँ उन जैन नर-नारियों की हमेशा कृतज्ञ रहेंगी, जिन्होंने इन अमूल्य निधियों को नष्ट होने से बचाया।”
(पृ० ३८)

“स्वयम्भू—हमारे इसी युग में नहीं हिन्दी कविता के पाँचों युगों—१ सिद्ध सामन्त युग, २ सूफी युग, ३ भक्त युग, ४ दर्बारी युग, ५ नवजागरण युग के जितने कवियों को हमने यहां सँगृहीत किया है, उसमें यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि स्वयम्भू सबसे बड़ा कवि था। वस्तुतः वह भारत के एक दर्जन अमर कवियों में से एक था। आश्चर्य और क्रोध दोनों होता है कि लोगों ने कैसे ऐसे महान् कवि को भुला देना चाहा। स्वयम्भू के रामायण और महाभारत (या कृष्ण-चरित्र) दोनों ही विशाल काव्य हैं। आदि।”
(पृ० ५०)

भारतवर्ष के प्रख्यात महान् कवि तुलसीदासजी लिखते हैं—
जे प्राकृत कवि परम सयाने, भाषा जिन हरि चरित बखाने।
भये जे अर्हहि जे होर्हहि आगे, प्रनवउं सर्बहि कपट सब त्यागे ॥
(पृ० २५)

अर्थ—प्राकृत (अपभ्रंश) के जो चतुर कवि हुए हैं, जिन्होंने रामदेव का चरित बनाया है, और आगे होंगे, मैं (तुलसीदास) उन सबकी कपटरहित होकर वन्दना करता हूँ ।

जैन विद्वानों ने आध्यात्मिक, पौराणिक, कथा, स्तुति, उपदेश आदि विभिन्न विषयों पर लगभग १३८ ग्रन्थ अपभ्रंश भाषा में लिखे हैं ।

अपभ्रंश भाषा से प्राचीन (मैथिली, ब्रजभाषा) हिन्दी का उद्गम हुआ । जैन विद्वानों ने इस भाषा में बहुतसा महत्त्वपूर्ण साहित्य लिखा है । फिर कुछ समय पीछे ब्रजभाषा खड़ी हिन्दी के रूप में हो गई । नवीन हिन्दी (खड़ी भाषा) में भी जैन साहित्य पर्याप्त बना है ।

इस तरह प्राकृत भाषा भारत की प्राचीनतर मूलभाषा है । प्राकृत से संस्कृत भाषा तथा अपभ्रंश भाषा की उत्पत्ति हुई । अपभ्रंश से हिन्दी भाषा की उत्पत्ति हुई है । हिन्दी में अपभ्रंश तथा संस्कृत भाषा को अपनाया गया है । इस तरह प्राकृत भाषा अपभ्रंश तथा संस्कृत भाषा की माता और हिन्दी की मातामही (नानी) प्रमाणित होती है ।

प्रकृति: संस्कृतम्

प्राकृत व्याकरण का प्रारम्भ करते हुए जो 'प्रकृति: संस्कृतम्' यानी—प्रकृति संस्कृत भाषा है, लिखा गया है उसका अभिप्राय यही हो सकता है कि प्रकृति प्रत्यय आदि रूप व्याकरण प्रथम संस्कृत भाषा में बनाया गया । संस्कृत भाषा का व्याकरण बन जाने के पश्चात् प्राकृत भाषा का व्याकरण बनाया गया । इस तरह व्याकरण की अपेक्षा संस्कृत को प्राकृत से पहले माना गया ।

(७१)

वैसे भाषा की दृष्टि से प्राकृत भाषा ही प्रकृति है क्योंकि प्राकृत भाषा का संस्कार (परिष्कार, सम्भार) होकर संस्कृत भाषा की उत्पत्ति हुई है। अतः प्राकृत भाषा मूल रूप है, संस्कृत भाषा का उद्गम-स्थल है, संस्कृत भाषा उत्तर रूप है।

प्राकृत भाषा के शब्दों का अनुकरण न केवल संस्कृत भाषा में हुआ है अपितु विदेशी भाषाओं में भी हुआ है। उदाहरण के लिये यहाँ दो शब्द दिये जाते हैं—

प्राकृत	संस्कृत	हिन्दी	आवेस्ता	यूनानी
पिदु	पितृ	पिता	पितर	पटेर
मादु	मातृ	माता	मातर	मटेर
लेटिन	अंग्रेजी	तुर्की	चीन	रूस

पतेर	फादर	पातर		
मतेर	मदर	मातर	मावो	मात्य

प्राकृत और हिन्दी के मिलते-जुलते शब्द—

प्राकृत	हिन्दी	प्राकृत	हिन्दी	प्राकृत	हिन्दी
अगइ	आगे	हल्लइ	हिलता है	अज्ज	आज
गिल्ल	गीला	आवसे	अवश्य	साडी	साड़ी
दोर	डोरा	ढंकइ	ढाँकता है	पाहुण	पाहुना
डोलइ	डोलता है	पुक्कार	पुकार	कसेरु	कचरा
कहाराणी	कहानी	सयाण	सयाना	हुयउ	हुआ
सिप्पी	सीप	पत्तल	पतला	सप्प	साँप
तलाउ	तलाब	खंड	खाँड	चंदोव	चँदोआ
थालु	थाल	भग्गा	भागे	लड्डु	लड्डू
घड	घड़ा	कन्न	कान	चुक्कइ	चूकता है
चक्खइ	चखता है				

प्राकृत भाषा में 'उवज्झाय' शब्द है जिसका अर्थ 'पाठक' या पढ़ाने वाला है। उवज्झाय शब्द का संस्कृत में रूपान्तर 'उपाध्याय' हुआ। महाराष्ट्र में यह शब्द 'उपाध्ये' बन गया कन्नड़ में 'उपद्या', राजस्थान में 'उपाधा', पंजाब में 'पाधा', कोंकण में 'पाधे' हो गया। अब यह शब्द अनेक विद्वानों द्वारा केवल 'पा' रूप से व्यवहृत होता है।

पादरी (Preacher) भी 'उवज्झाय' शब्द का बदला हुआ रूप है।

इससे यह सिद्ध होता है कि पहले समस्त जनता की एक भाषा थी, उसी का विभिन्न प्रान्तों तथा विभिन्न देशों में रूपान्तर हो गया।

जैसे कि सप्ताह के रविवार, सोमवार आदि सात दिनों के Sunday सण्डे, Monday मण्डे आदि परिवर्तित शब्दों से अपनाया गया। सन् डे, मन् (मून) डे का अर्थ भी रविवार, सोमवार होता है। वर्ष के १२ ही मास सब देशों में माने गये हैं।

श्री डा० भोलाशंकर व्यास एम० ए० 'संस्कृत भाषा शास्त्रीय अध्ययन' में लिखते हैं—

“इन भाषाओं की इस प्रकार की समानताएँ इस परिणाम की ओर ले जाती हैं कि ये भाषाएँ किसी एक ही प्राचीन भाषा से उत्पन्न हुई हैं।” (पृ० ४६)

“इन भाषाओं की समानता देखकर अनुमान होता है कि प्रारंभ में इसके बोलने वाले एक ही स्थान पर रहते होंगे।” (पृ० ४६)

कन्नड़ भाषा में भी जैन विद्वानों ने महान् साहित्य निर्माण किया है। कन्नड़ साहित्य के ६० कवि हुए हैं उनमें से ५० कवि जैन हैं।

श्री रा० ब० नरसिंहाचारी एम० ए० लिखते हैं—

“कन्नड़ भाषा के आद्य कवि जैन हैं। अब तक उपलब्ध प्राचीन और उत्कृष्ट रचनाओं का श्रेय जैनों को है।”

इस तरह जैन ऋषियों तथा जैन विद्वानों ने जैसे भारत की सबसे प्राचीन भाषा प्राकृत का आदर किया, उसमें विपुल साहित्य रचना की, इसी तरह संस्कृत भाषा का सन्मान किया, संस्कृत भाषा में समस्त विषयों पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। तथा च अपभ्रंश भाषा में और कन्नड़ में भी पठनीय साहित्य निर्माण किया। कभी किसी भाषा से अरुचि या घृणा प्रकट नहीं की।

सत्य जानने की पद्धति

लोकत्रयैकनेत्रं, निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।

सकलनयविलसितानां, विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

(पुरुषार्थ सिद्धि उपाय)

अर्थ—नेत्र के समान जो त्रिलोकवर्ती पदार्थों को जानने वाला है, जन्मान्ध पुरुषों की हाथी के विषय में की गई अधूरी कल्पनाओं को दूर करने वाला है, समस्त नयों (एकाङ्गी ज्ञानों) के पारस्परिक विरोध को दूर करने वाला है, ऐसे अनेकान्तवाद को मैं नमस्कार करता हूँ।

जिस तरह जैनधर्म का उदयकाल सबसे पुरातन है, जिस तरह उसने विश्व कल्याण के लिये अहिंसा सिद्धान्त को आचरणीय बतलाया है, उसी तरह मत-मतान्तरों के पारस्परिक वाद-विवादों को दूर करने के लिये उसने अनेकान्तवाद वा स्याद्वाद सिद्धान्त का अनुपम प्रतिपादन किया है।

भिन्न भिन्न दृष्टिकोण (पौइन्ट ऑफ व्यू) से पदार्थों को जान कर मत मतान्तर अपने एकाङ्गी ज्ञान को ही पूर्ण सत्य ज्ञान मानकर दूसरे मत के सिद्धान्त को असत्य बतलाते हुए परस्पर वाद-विवाद करते हैं। जिस तरह—

एक गाँव में ६ जन्म से अन्धे पुरुष रहते थे, नेत्रों में ज्योति न होने से वे सब वस्तुओं को अपने हाथों से टटोल कर जाना करते थे कि 'अमुक वस्तु ऐसी होती है।'।

एक दिन उनके गाँव में एक हाथी आया। गाँव वाले स्त्री पुरुष बच्चे हाथी को देखने के लिये दौड़े, वे अन्धे भी हाथी का आकार-प्रकार, शक्ल-सूरत जानने की इच्छा से वहाँ पहुँचे। गाँव वालों ने अपनी आँखों से हाथी देखकर जान लिया कि वह बहुत बड़ा अद्भुत आकार (विचित्र शक्ल) का चौपाया पशु है। वे अन्धे उस हाथी का शरीर हाथों से छूकर जानने लगे।

एक अन्धे ने हाथी का कान पकड़ा, उसने समझ लिया कि हाथी अनाज फटककर साफ करने वाले सूप के समान होता है। दूसरे अन्धे ने हाथी का दाँत जा पकड़ा, उसने समझ लिया कि हाथी का आकार दीवाल में गड़ी हुई बहुत बड़ी खूँटी के समान होता है। तीसरे ने हाथी की सूँड जा टटोली तो उसने समझ लिया कि हाथी केले के पेड़ की तरह होता है। चौथे अन्धे ने हाथी का पैर हाथों से छुआ तो वह समझ बैठा कि हाथी खम्भे के समान होता है। पाँचवें अन्धे ने उसके पेट पर हाथ फेरा तो उसने समझा कि हाथी भैंस के पेट की तरह बड़ा लम्बा चौड़ा होता है, और छठे अन्धे ने हाथी की पूँछ अपने हाथों से जा पकड़ी तो उसकी विचारधारा में यह बात समा गई कि हाथी का आकार डंडे के समान होता है।

हाथी तो थोड़ी देर पीछे वहाँ से चला गया परन्तु उन अन्धों के हृदय में अपने भिन्न २ तरह के आकार पैदा कर गया । अतः हाथी चले जाने पर वे अन्धे आपस में बातें करते हुए अपने २ हाथों से टटोल कर जाने हुए आकार-प्रकार को ही हाथी का पूरा ठीक आकार समझकर दूसरे अन्धों की जानी हुई हाथी की शक्ल को असत्य समझने लगे । इसलिये उनमें से एक कहता है कि हाथी सूप के समान होता है । दूसरा कहता है कि तू असत्य बोलता है, हाथी तो बड़ी खूँटी की तरह होता है । तीसरे ने कहा कि तुम दोनों भूठ बोलते हो, हाथी तो केले के पेड़ की तरह होता है । चौथा बोला कि तुम तीनों का कहना गलत है, हाथी तो लकड़ी के खम्भे के समान होता है । पाँचवा बोला कि तुम चारों असत्य कहते हो, हाथी की सूरत भैंस के पेट की तरह होती है । छठा अन्धा बोला कि तुम पाँचों भूठे हो, हाथी तो डंडे की तरह होता है ।

इस तरह अपनी बात को ही सत्य समझ कर वे छहों अन्धे परस्पर में झगड़ने लगे, दूसरों को भूठा कहने लगे ।

उस समय वहाँ एक सज्जन आये । उन्होंने उन अन्धों का झगड़ा सुना तब उन अन्धों को शान्ति से समझाया कि सूरदासो ! जैसे तुम्हारे शरीर में कान, दाँत, नाक, पेट, पैर, आदि अंग हैं, सब अंगों को मिलाकर तुम्हारा शरीर बना हुआ है, उसी तरह हाथी के भी ये सब अंग होते हैं । एक पूँछ और होती है । तुम सबने उसका एक-एक अंग ही हाथ से छुआ है, इसलिये तुम उसको उतना ही हाथी समझ रहे हो । तुम सबका जानना सत्य हो सकता है यदि तुम 'ही' के स्थान पर 'भी' लगा दो ।

यानी—तुम यह कहना छोड़ दो कि 'हाथी सूप-सा ही या

खम्भे-सा ही होता है' । इसके बजाय ऐसा कहो कि हाथी (कान की अपेक्षा) सूप सरीखा भी है, हाथी (पैरों की अपेक्षा) खम्भे-सा भी है, हाथी (सूँड की अपेक्षा) केले के पेड़-सा भी है आदि । इस तरह 'ही' लगाना छोड़कर अपनी बात में 'भी' लगाकर कहोगे तो तुम सब सच्चे हो जाओगे ।

उक्त सज्जन की बात सुनकर उन अन्धों ने अपनी गलती समझ ली और अपना २ एकान्त हठ छोड़ दिया । इस तरह उनका आपसी झगड़ा मिट गया ।

ठीक, इसी तरह संसार के सभी मत-मतान्तर पृथक्-पृथक् एकान्त हठ पकड़कर दूसरे को झूठा बतलाकर परस्पर झगड़ते हैं, बहुत वाद-विवाद करते हैं । यदि वे अपनी 'ही' को छोड़कर 'भी' लगाने लगे तो जहाँ उनका आपसी झगड़ा दूर हो जावे वहीं उनको पदार्थों का सर्वांश ज्ञान भी होने लगे ।

इस प्रकार अनेकान्त सिद्धान्त संसार के समस्त आपसी वाद-विवादों को दूर कर देता है । वह सबको 'ही' छोड़कर 'भी' लगाने की प्रेरणा करता है । इस पारस्परिक विचारों-सिद्धान्तों का विवाद दूर करने में जैनधर्म का अनेकांत या स्याद्वाद सिद्धान्त सफलता प्राप्त करता है ।

इस अनेकान्त या स्वाद्वाद सिद्धान्त को स्पष्ट तथा सुगम करने के लिये इसे अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभङ्गी प्रकरणों में रखते हैं ।

अनेकान्त

इस जगत् में अनन्तानन्त चेतन पदार्थ (जीव) हैं और अनन्तानन्त जड़ (अजीव) पदार्थ हैं । उनमें से प्रत्येक पदार्थ अनन्त

(७७)

गुणों (शक्तियों) तथा अनन्त विशेषताओं का पुञ्ज है। सूक्ष्म परमाणु (Atom) में भी अनन्त शक्तियाँ निहित हैं। परमाणु की शक्ति से विशाल नगरों का विध्वंस क्षण भर में किया जा सकता है और विशाल परिमाण में विद्युत् (विजली) उत्पन्न करने वाले विजलीघर का संचालन किया जा सकता है, भीमकाय जलयान (पानी के जहाज, पनडुब्बी, नाव आदि) परमाणु की शक्ति से चलाये जा सकते हैं। एक परमाणु में जब इस प्रकार की विध्वंस, निर्माण, संचालन, प्रेरण आदि रूप असौम्य शक्तियाँ तथा विशेषताएँ सिद्ध होती हैं, तब अन्य विशाल जड़ चेतन पदार्थों के गुणों और विशेषताओं का भी इससे अनुमान किया जा सकता है।

अग्नि लकड़ी जलाकर भस्म करती है, सोने को गला कर शुद्ध करती है, रोट्टी को पकाती है, दाल को गलाती है, जल को भाप बनाती है, अशुद्ध धातुपात्रों को शुद्ध करती है, शीत को दूर करती है, प्रकाश करती है, इत्यादि अनन्त प्रकार की विशेषताएँ अग्नि में विद्यमान हैं।

ऐसी ही अनन्त शक्तियाँ, गुण या विशेषताएँ जल, वायु तथा पार्थिव पदार्थों में विद्यमान हैं। ये भौतिक (पार्थिव, जलीय, आग्नेय, वायव्य) पदार्थ उन परमाणुओं के सम्बद्ध समुदाय से बना करते हैं, जिनकी शक्ति परमाणु बम, परमाणु विजलीघर आदि के रूप में पहले बतलाई जा चुकी है।

पौद्गलिक (मैटीरियल) जड़ पदार्थों के सिवाय अमूर्तिक (नान मैटीरियल) जड़ पदार्थ और भी हैं, जिनको धर्म (क्रिया-शील अनन्त पदार्थों की हलन-चलन रूप क्रिया में सहायक), अधर्म (स्थितिशील अनन्त पदार्थों को स्थिति-ठहरने में सहायक), आकाश (समस्त पदार्थों के लिये स्थानदाता), काल (समस्त

अनन्तों पदार्थों के प्रतिक्षणवर्ती परिणामन में सहायक) नाम से कहा जाता है। उन अमूर्तिक जड़ पदार्थों में से प्रत्येक में भी परमाणु या भौतिक पदार्थों के समान अनन्त शक्तियाँ विद्यमान हैं जिससे कि इस विश्व जगत् का ढाँचा सूक्ष्म रूप से विविध परिणामन कर रहा है। स्थूल दृष्टि, विचार शक्ति सहसा उसको न जान सके किन्तु सूक्ष्म विचार से तो उनको जाना ही जाता है।

जड़ पदार्थों के समान चेतन पदार्थ जीव भी संख्या में अनन्तानन्त हैं और प्रत्येक चेतन पदार्थ भी, वह चाहे छोटा प्रतीत हो या बड़ा, अनन्त शक्तियों का पुञ्ज है। ज्ञान, दर्शन, सुख, बल, श्रद्धा, समता, क्षमता, मृदुता आदि अनन्त प्रकार के गुण या शक्तियाँ तथा विशेषताएँ प्रत्येक जीव में विद्यमान (मौजूद) हैं।

यानी—जगत् का कोई भी पदार्थ क्यों न हो वह अनन्त गुणात्मक है। उन अनन्त गुणों का परिणामन भिन्न-भिन्न निमित्तों से विभिन्न प्रकार का हुआ करता है। उन विभिन्न विशेषताओं को जब विभिन्न दृष्टिकोणों (अपेक्षाओं) से जाना जाता है तब प्रत्येक पदार्थ अनेक रूप में प्रतीत होता है।

जल किसी प्यासे मनुष्य को प्यास बुझाकर उसे जीवन देता है और किसी प्यासे (हैजा के रोगी) को प्यास बुझाकर मार देता है। स्नान के रूप में स्वस्थ मनुष्य को जल स्फूर्ति, आनन्द देता है, दाहज्वर वाले मनुष्य को वही जलस्नान सन्निपात लाकर मृत्यु के निकट पहुँचा देता है। इस तरह जल जीवनदाता अमृत-रूप भी है और मारक विषरूप भी है।

दूध शरीर के लिये सर्वोत्तम पोषक पदार्थ है। तत्काल का उत्पन्न बालक, शिशु का जीवन तो दूध के आधार पर निर्भर है। किशोर, यौवन, प्रौढ़, वृद्ध दशा में भी दूध शरीर का अच्छा पोषण

(७६)

करता है, इसी कारण दूध को अमृत भी कहा जाता है । परन्तु वही दूध अतिसार (दस्त) के रोगी को दिया जावे तो उसके लिये विष के समान हानिकारक होता है ।

ऐसे ही विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न प्रकार की प्रतीत होने वाली अनेक प्रकार की विशेषताएँ प्रत्येक पदार्थ में एक साथ होती हैं ।

जैसे—राम राजा दशरथ के पुत्र थे किन्तु लवणांकुश (लव, कुश) के पिता थे, लक्ष्मण के भाई थे, सीता के पति थे, जनक के जामाता (दामाद) थे, भामण्डल के बहनोई थे । इस तरह एक ही राम — पुत्र, पिता, भाई, पति, दामाद, बहनोई आदि रूप थे ।

इसी प्रकार प्रायः अन्य प्रत्येक मनुष्य भी पिता-पुत्र, बाबा-पोता, पति-पुत्र, श्वशुर-जमाई, साला-बहनोई आदि अनेक संबंधों का समुदाय होता है ।

इन अनेक प्रकार की विशेषताओं के कारण ही प्रत्येक पदार्थ अनेकान्त (अनेके अन्ताः—धर्माः यस्मिन् स अनेकान्तः) रूप में पाया जाता है । जो धर्म-विशेषताएँ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं (जैसे जो पुत्र है वह पिता कैसे हो सकता है, जो साला है वह बहनोई कैसे हो सकता है ? जो पति है वह पुत्र कैसे हो सकता है इत्यादि) वे ही विशेषताएँ एक ही पदार्थ में ठीक सही तौर पाई जाती हैं । पदार्थ की इस अनेकरूपता-धर्मात्मकता का बतलाने वाला सिद्धान्त अनेकान्तवाद कहलाता है ।

हम हाथी का चित्र पीछे की ओर से लें तो उसकी फोटो में पिछले पैर और पूँछ ही दिखाई देगी, सामने से फोटो खींचेंगे तो उसकी सूँड, दाँत, आँख, कान, मुख, अगले पैर चित्र में आवेंगे, यदि दायीं ओर से फोटो खींची जाय तो हाथी की तस्वीर अन्य

(८०)

ढंग की होगी और बायीं ओर केमरा लगाकर फोटो लेने से हाथी का चित्र पहले तीन चित्रों से विलक्षण होगा। इस तरह एक ही हाथी का चित्र भिन्न २ दिशाओं से भिन्न २ प्रकार का होता है, वे सभी चित्र परस्पर में एक दूसरे से विलक्षण हैं, परन्तु हैं सब सच्चे और एक ही हाथी के।

तर्जनी (अंगूठे की साथ वाली अंगुली) बड़ी भी है क्योंकि अंगूठे से तथा कनिष्ठा (पाँचवीं सबसे छोटी अंगुली) से लम्बाई में वह बड़ी है, परन्तु मध्यमा (बीच की अंगुली) से वह छोटी भी तो है। छोटापन और बड़ापन दोनों धर्म उस एक ही तर्जनी अंगुली में पाये जाते हैं।

हमारा भारत देश हिन्द महासागर से उत्तर दिशा में है, हिमालय पर्वत से दक्षिण में है, अरब देश से पूर्व में है, और ब्रह्म देश (बर्मा) से पश्चिम में है, आकाश से नीचे की ओर है और पाताल से ऊपर की ओर है। इस तरह एक ही भारत देश विभिन्न छह दिशाओं से छह तरह का है, छह तरह से कहा तथा माना जाता है। परस्पर-विरोधी छहों बातें हैं बिल्कुल ठीक।

पाँच वर्ष का बच्चा अपने ३० वर्ष के पिता से छोटा भी है क्योंकि उसका शरीर छोटा है, शरीर निर्बल है, बुद्धि अल्प है। परन्तु वही पाँच वर्ष का बच्चा अपनी दो वर्ष की बहन से बड़ा भी है। और वास्तव में आयु की अपेक्षा देखा जावे तो वह पाँच वर्ष का बच्चा अपने ६५ वर्ष के बाबा (दादा) से ६० वर्ष तथा अपने पिता से २५ वर्ष बड़ा है क्योंकि उसके बाबा ने अपनी आयु के ६५ वर्ष समाप्त कर दिये जब कि उस बच्चे ने अभी केवल पाँच वर्ष ही बिताये हैं। उसका पिता अपने जीवन के ३० वर्ष खो चुका जब कि उस बच्चे के केवल पाँच वर्ष बीते हैं। यदि

(८१)

तीनों की आयु ८०-८० वर्ष हो तो उसका बाबा केवल १५ वर्ष और जीवेगा, उसका पिता ५० वर्ष और जीवित रहेगा और वह बच्चा (बाबा और पिता से अधिक) ७५ वर्ष और जीवित रहेगा। किन्तु उसकी दो वर्ष की छोटी बहिन ७८ वर्ष जीवेगी, इस कारण उस बच्चे से वह तीन वर्ष बड़ी है।

इस तरह एक ही पाँच वर्ष का बच्चा अपने बाबा, पिता और दो वर्ष वाली बहिन से छोटा है और बड़ा भी है। उसका छोटापन न कल्पित है, न उसका बड़ापन कल्पित है। दोनों ही धर्म यथार्थ हैं, वास्तविक हैं।

इस तरह किसी भी पदार्थ के स्वरूप की छानबीन की जावे तो वह अनेक धर्मात्मक (अनेक रूप का) सिद्ध होता है, एक धर्म रूप ही प्रमाणित नहीं होता। इस कारण जगत् के सभी पदार्थ अनेकान्त रूप हैं, एकान्त (एक ही रूप) रूप कोई भी पदार्थ सिद्ध नहीं होता।

इस प्रकार सूक्ष्म तथा स्थूल विचार से अनेकान्तवाद यानी—अनेकान्त का सिद्धान्त यथार्थ एवं अकाट्य सिद्ध होता है।

जब हम कहते हैं कि 'आत्मा नित्य है', उस समय हमारा दृष्टिकोण (point of view) मौलिक आत्मद्रव्य पर होता है। क्योंकि आत्मा अभौतिक द्रव्य है अतः वह न तो अस्त्र-शस्त्रों से छिन्न हो सकता है, न अग्नि से जल सकता है, न जल से गल सकता है और न वायु से सूख सकता है। अनादि काल से अनन्त काल तक बना रहता है।

परन्तु जब हम सांसारिक आवागमन को मुख्य करके आत्मा की पर्याय (भव-अवस्था) का विचार करते हैं तो आत्मा अनित्य सिद्ध होता है, क्योंकि आत्मा कभी मनुष्यभव में होता है, कभी

(८२)

मर कर पशु-पक्षी आदि हो जाता है । इस तरह एक ही आत्म में नित्यता भी है और अनित्यता भी है ।

‘पुरुषार्थसिद्धि-उपाय’ ग्रन्थ में इसके लिये सुन्दर उदाहरण दिया है —

एकेनाकर्षन्ती, श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।

अन्तेन जयति जैनी, नीतिर्मन्याननेत्रनिव गोपी ॥

अर्थ — जिस तरह दही को मथ कर मक्खन निकालने वाली ग्वालिन मथानी की रस्सी को एक हाथ से खींचती है और दूसरे हाथ की रस्सी को ढीला कर देती है, इसी तरह जैन पदार्थ-निर्णय-पद्धति (अनेकान्तवाद) पदार्थ के किसी एक धर्म को मुख्य करता है तो दूसरे को गौण (अमुख्य) कर देता है । उसे सर्वथा छोड़ नहीं देता ।

इस प्रकार अनन्त धर्मात्मक पदार्थों के किसी धर्म को मुख्य और अन्य धर्म को गौण करके विचार करने से तत्त्वका ठीक निर्णय होता है ।

सप्तभङ्गी

‘भङ्ग’ शब्द के भांग, लहर, प्रकार, विघ्न आदि अनेक अर्थ होते हैं, उनमें से यहाँ पर प्रकारवाचक ‘भङ्ग’ शब्द लिया है । तदनुसार वचन के भङ्ग (प्रकार) सात प्रकार के हो सकते हैं उससे अधिक नहीं क्योंकि आठवीं तरह का कोई वचनभङ्ग होता नहीं । और सात से कम मानने से कोई न कोई वचनभङ्ग छूट जायगा ।

इसका कारण यह है कि किसी भी पदार्थ के विषय में कोई भी बात कही जाती है वह मौलिक रूप से तीन प्रकार की होती

(८३)

है या हो सकती है, १—‘है’ (अस्ति) के रूप में, २—‘नहीं’ (नास्ति) के रूप में, ३—न कह सकने योग्य (अवक्तव्य) के रूप में ।

इन मूल तीन भङ्गों के परस्पर मिलाकर तीन युगल (द्वि-संयोगी) रूप होते हैं—१—है और नहीं (अस्ति नास्ति) रूप, २—है और न कह सकने योग्य (अस्ति अवक्तव्य), ३—नहीं और न कह सकने योग्य (नास्ति अवक्तव्य) रूप ।

एक भङ्ग तीनों का मिला हुआ (त्रिसंयोगी) होता है—है, नहीं और न कह सकने योग्य (अस्ति नास्ति अवक्तव्य) ।

इस तरह वचनभङ्ग सात तरह के हैं, इन सातों भङ्गों के समुदाय को (सप्तानां भङ्गानां समुदायः सप्तभङ्गी) ‘सप्तभङ्गी’ कहते हैं । इस तरह स्यात् पद लगाकर उन सात भङ्गों के नाम यों हुए—

१ स्यात् अस्ति, २ स्यात् नास्ति, ३ स्यात् अस्ति नास्ति, ४ स्यात् अवक्तव्य, ५ स्यात् अस्ति अवक्तव्य, ६ स्यात् नास्ति अवक्तव्य, ७ स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य ।

१. प्रत्येक वस्तु अपने (विवक्षित—कहने के लिये इष्ट) दृष्टिकोण (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा) अस्तित्व रूप होती है ।

२. प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तुओं की या अन्य (अविवक्षित) दृष्टिकोणों की अपेक्षा अभाव नास्तित्व रूप होती है । जैसे—राम राजा जनक (की अपेक्षा) के पुत्र नहीं हैं ।

३. दोनों दृष्टिकोणों को क्रम से कहने पर वस्तु अस्तित्व तथा अभाव (अस्ति नास्ति) रूप होती है । जैसे—राम दशरथ के पुत्र हैं, जनक के पुत्र नहीं हैं ।

(८४)

४. परस्पर विरोधी (हैं तथा नहीं रूप) दोनों दृष्टिकोणों से एक साथ (युगपत्) वस्तु वचन द्वारा कही नहीं जा सकती क्योंकि वैसा वाचक (कहने वाला) कोई शब्द नहीं है। अतः उस अपेक्षा से वस्तु अवक्तव्य (न कह सकने योग्य) होती है। जैसे—राम राजा दशरथ तथा राजा जनक की युगपत् (एक साथ एक शब्द द्वारा) अपेक्षा कुछ नहीं कहे जा सकते।

५. वस्तु न कह सकने योग्य (युगपत् कहने की अपेक्षा अवक्तव्य) होते हुए भी अपने दृष्टिकोण से होती तो है (स्यात् अस्ति अवक्तव्य) जैसे राम यद्यपि दशरथ तथा जनक की अपेक्षा एक ही शब्द द्वारा अवक्तव्य (न कहे जा सकने योग्य) है फिर भी राजा दशरथ की अपेक्षा पुत्र है। (स्यात् अस्ति अवक्तव्य)।

६. वस्तु अवक्तव्य (युगपत् कहने की अपेक्षा) होते हुए भी अन्य दृष्टिकोण से नहीं रूप है (स्यात् नास्ति अवक्तव्य) जैसे राम युगपत् दशरथ तथा जनक की अपेक्षा अवक्तव्य होते हुए भी राजा जनक की अपेक्षा पुत्र नहीं हैं। (स्यात् नास्ति अवक्तव्य)।

७. परस्पर विरोधी (हैं और नहीं रूप) दृष्टिकोणों से युगपत् (एक साथ एक ही शब्द द्वारा) अवक्तव्य (न कह सकने योग्य) होते हुए भी वस्तु क्रमशः उन परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों से है, नहीं रूप होती है। (अस्ति नास्ति अवक्तव्य)। जैसे—राम राजा दशरथ तथा राजा जनक की अपेक्षा युगपत् रूप से कुछ भी नहीं कहे जा सकते (अवक्तव्य) हैं किन्तु युगपत् की अपेक्षा अवक्तव्य होकर भी क्रमशः राम राजा दशरथ के पुत्र हैं, राजा जनक के पुत्र नहीं हैं।

इस प्रकार सप्तभङ्गी प्रत्येक पदार्थ के विषय में लागू होती है। सप्तभङ्गी के लागू होने के विषय में मूल बात यह है कि

(८५)

प्रत्येक पदार्थ में अनुयोगी (अस्तित्व रूप) और प्रतियोगी (अभाव रूप—नास्तित्व रूप) धर्म पाये जाते हैं तथा अनुयोगी प्रतियोगी धर्मों को युगपत् (एक साथ) किसी भी शब्द द्वारा न कह सकने योग्य रूप अवक्तव्य धर्म भी प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान है। अनुयोगी, प्रतियोगी और अवक्तव्य इन तीनों धर्मों के एक संयोगी (अकेले अकेले) तीन भङ्ग होते हैं, द्विसंयोगी (युगल रूप) तीन भङ्ग होते हैं तथा तीनों का मिलकर त्रिसंयोगी भङ्ग एक होता है। इस तरह सब मिलकर सात भङ्ग हो जाते हैं।

स्याद्वाद

जानने और कहने में बहुत भारी अन्तर है, क्योंकि जितना जाना जा सकता है उतना कहा नहीं जा सकता। इसका कारण यह है कि जितने ज्ञान के अंश हैं, उन ज्ञान-अंशों के वाचक न तो उतने शब्द हैं और न उन सब ज्ञान-अंशों को कह डालने की शक्ति जीभ (रसना) में है।

मोटा सा दृष्टान्त है कि हम अंगूर, आम, अनार खाकर उनके मिठास के अन्तर (मिष्टता) को पृथक्-पृथक् यथार्थ कह नहीं सकते। किसी भी इष्ट या अनिष्ट पदार्थ के छूने, सूँघने, देखने, सुनने में जो आनन्द या दुःख होता है, कोई भी मनुष्य उस इन्द्रियजन्य ज्ञान को ठीक उसी रूप में मुख द्वारा कह नहीं सकता। परीक्षा में उत्तीर्ण (पास) होने वाले विद्यार्थी को अपना परीक्षाफल जानकर जो हर्ष हुआ, उस हर्ष को हजारों यत्न करने पर भी वह ज्यों का त्यों कह नहीं सकता। गठियावात रोगी को गठियावात की जो पीड़ा होती है, उसे वह शब्दों द्वारा नहीं बतला सकता।

(८६)

इस तरह एक तो जानने और कहने में यह एक बड़ा भारी अन्तर है। दूसरे जितना विषय एक समय में जाना जाता है यदि उसे मोटे रूप से भी कहना चाहें तो उसके कहने में जानने की अपेक्षा समय बहुत अधिक लगता है। एक सुन्दर वाग का दृश्य देखकर जो उस वाग के विषय में एक ही मिनट में ज्ञान हुआ, उस सब जानी हुई बात को कहने में अनेक मिनट ही नहीं अपितु अनेक घंटे लग जायेंगे। क्योंकि जिन सब बातों को नेत्रों ने तथा नाक ने एक मिनट में जान लिया है उनको जीभ एक साथ कह नहीं सकती। उन बातों को क्रम से एक एक करके कहा जा सकेगा।

इसी कारण प्राचीन ग्रन्थकारों ने लिखा है कि सर्वज्ञ अपने ज्ञान द्वारा जितना त्रिकालवर्ती तथा त्रिलोकवर्ती पदार्थों को युग-पत् (एक साथ) जानते हैं, उसके अनन्तर्वे भाग विषय उनकी वाणी से प्रकट होता है। जितना दिव्य ध्वनि से प्रकट होता है उसके अनन्तर्वे भाग चार ज्ञानधारक गणधर अपने हृदय में धारण कर पाते हैं। जितना विषय धारण कर पाते हैं उसका अनन्तर्वा भाग शास्त्रों में लिखा जाता है।

इस प्रकार जानने और उस जाने हुए विषय को कहने में महान् अन्तर है। एक साथ जानी हुई बात को ठीक उसी रूप में एक साथ कह सकना असम्भव है।

अतः जिस पदार्थ के विषय में कुछ कहा जाता है तो एक समय में उसकी एक ही बात कही जाती है, उस समय उसकी अन्य बातें कहने से छूट जाती हैं, किन्तु वे अन्य बातें उसमें होती अवश्य हैं। जैसे कि जब यह कहा जावे कि 'राम राजा दशरथ के पुत्र थे', उस समय राम के साथ लगे हुए सीता, लक्ष्मण, लव-कुश

(लवणांकुश) आदि अन्य व्यक्तियों के पति, भ्राता, पिता आदि के संबंध कहने से छूट जाते हैं, जो कि यथार्थ हैं। यदि उन छूटे हुए संबंधों को अपलाप कर दिया जावे (सर्वथा छोड़ दिया जावे) तो राम संबंधी परिचय (जानकारी) अधूरा रह जायगा और इसी कारण वह कहना गलत (अयथार्थ) प्रमाणित (साबित) होगा।

इस गलती या अधूरेपन को हटाने के लिए जैन सिद्धान्त ने प्रत्येक वाक्य के साथ 'स्यात्' शब्द लगाने का निर्णय दिया है।

'स्यात्' शब्द का अर्थ 'कथञ्चित्' यानी—'किसी दृष्टिकोण से' या 'किसी अपेक्षा से' है। अर्थात् जो बात कही जा रही है वह किसी एक अपेक्षा से (किसी एक इच्छित दृष्टिकोण से) कही जा रही है। जिसका अभिप्राय यह प्रकट होता है कि यह विषय अन्य दृष्टिकोणों से या अन्य अपेक्षाओं से अन्य अनेक प्रकार भी कहा जा सकता है।

तदनुसार राम के विषय में यों कहेंगे—

स्यात् (राजा दशरथ की अपेक्षा) राम पुत्र हैं।

स्यात् (सीता की अपेक्षा) राम 'पति' हैं।

स्यात् (लक्ष्मण की अपेक्षा) राम 'भ्राता' हैं।

स्यात् (लवणांकुश की अपेक्षा) राम 'पिता' हैं।

स्यात् (राजा जनक की अपेक्षा) राम 'जामाता' (दामाद) हैं।

इस तरह 'स्यात्' शब्द लगाने से उस बड़ी भारी त्रुटि (गलती) का ठीक सुधार हो जाता है जो उपर्युक्त पाँच बातों में से एक ही बात कहने पर होती है।

(८८)

यानी—राम 'पुत्र' तो हैं किन्तु वे सर्वथा (हर तरह से) पुत्र ही नहीं हैं, वे पति, भाई, पिता, दामाद आदि भी तो हैं। हां, वे राजा दशरथ की अपेक्षा से पुत्र ही हैं। इस 'अपेक्षा' शब्द से उनके अन्य दूसरे पति, भाई, पिता, दामाद आदि संबंध सुरक्षित रहे आते हैं।

स्यात् भारत (हिमालय की अपेक्षा) दक्षिण में है।

इससे यही ध्वनि निकलती है कि भारत देश सर्वथा (हर एक तरह से—सर्वथा) दक्षिण में ही नहीं है अपितु अन्य दृष्टिकोणों से अन्य दिशाओं में भी है।

तदनुसार—

स्यात् (हिन्द महासागर की अपेक्षा) भारत देश उत्तर दिशा में है। स्यात् (अफगानिस्तान की अपेक्षा) भारतवर्ष पूर्व दिशा में है। स्यात् (वर्मा की अपेक्षा) भारत पश्चिम में है।

इस तरह 'स्यात्' पद लगा देने से उस कही हुई बात के सिवाय उस पदार्थ-संबंधी अन्य बातों की सत्ता (संभावना) बनी रहती है।

स्यात् (त्रिकाल अविनाशी द्रव्य की अपेक्षा) जीव नित्य है। इससे ध्वनित होता है कि जीव में नित्यता की तरह किसी अन्य दृष्टिकोण (अपेक्षा) से 'अनित्यता' भी पाई जाती है।

तदनुसार—स्यात् (पर्याय की अपेक्षा—मनुष्य, पशु आदि नश्वर शरीरों की दृष्टि से) जीव अनित्य है, इस सत्य बात की भी रक्षा हो जाती है।

इस प्रकार 'स्यात्' पद लगा देने से संसार के सभी सैद्धा-
न्तिक विवाद शान्त हो जाते हैं।

किसी भवन के चारों ओर खड़े होकर चार फोटोग्राफर यदि उस भवन का फोटो लें, तो उस एक ही भवन के चारों फोटो चार विभिन्न (अलग अलग) तरह के आवेंगे । इस पर वे फोटोग्राफर अपने अपने फोटो को ठीक बताकर परस्पर झगड़ने लगें कि 'मेरा फोटो ठीक है, तुम तीनों के फोटो गलत हैं ।' तो उस विवाद का यथार्थ तथा चारों फोटोग्राफरों के लिये संतोष-जनक निर्णय (फैसला) 'स्यात्' (कोई एक इष्ट दृष्टिकोण) कर सकता है । तदनुसार निर्णय दिया जायगा कि—

स्यात् (सामने की अपेक्षा) इस (भवन के सामने खड़े होकर खींचने वाले) फोटोग्राफर का फोटो ठीक है । स्यात् (पीछे भाग की अपेक्षा) पीछे से फोटो लेने वाले का फोटो ठीक है । स्यात् (दाहिनी ओर की अपेक्षा) दाहिनी ओर से फोटो लेने वाले फोटोग्राफर का फोटो ठीक है । स्यात् (बाईं ओर की अपेक्षा) बाईं ओर से फोटो लेने वाले फोटोग्राफर का फोटो ठीक है ।

इस तरह सबको सन्तोष-जनक यथार्थ निर्णय 'स्यात्' लगाने से हो जाता है ।

जगत् के विभिन्न मत-मतान्तर अपने अपने एक एक दृष्टिकोण ही को सत्य मानकर दूसरों के दृष्टिकोण से प्रगट की गई मान्यता असत्य बतला कर परस्पर विवाद करते हैं । उनका विवाद 'स्यात्' पद लगाकर ही दूर किया जा सकता है ।

अनेकान्तवाद और सप्तभङ्गी, स्याद्वाद के रूपान्तर हैं । स्याद्वाद एक वास्तविक अकाट्य सिद्धान्त है किन्तु यह दार्शनिक तर्क-विषय है, अतः कुछ कठिन है । अनेक व्यक्ति इसका स्वरूप ठीक न समझ सकने के कारण इसे गलत ठहराने का यत्न करते हैं । ऐसी त्रुटि साधारण व्यक्ति ही नहीं, बड़े-बड़े विद्वान भी

(६०)

कर जाते हैं। श्री शंकराचार्य जैसे उद्भूट विद्वान भी स्याद्वाद को न समझ पाये, अतएव वे अपने शांकर भाष्य में 'नैकस्मिन्नसंभवात्' सूत्रकी व्याख्या करते हुए बहुत मोटी गलती कर गये हैं। जिन विद्वानों ने स्याद्वाद को ठीक समझ कर शांकर भाष्य देखा है, वे शंकराचार्यके भक्त होते हुए भी उनकी गलती स्वीकार करते हैं:-

हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस के दर्शन विषय (फिलासफी) के भूतपूर्व प्रधान अध्यापक श्री फणिभरण अधिकारीजी लिखते हैं-

“जैनधर्म के स्याद्वाद सिद्धान्त को जितना गलत समझा गया है उतना किसी अन्य सिद्धान्त को नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। उन्होंने भी इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया। यह बात अल्पज्ञ पुरुष के लिये क्षम्य हो सकती थी, किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान् विद्वान् के लिये तो अक्षम्य ही कहूँगा, यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्म के दर्शन शास्त्र के मूलग्रन्थों के अध्ययन करने की परवाह नहीं की।”

श्री महामहोपाध्याय सत्यसम्प्रदायाचार्य पं० स्वामी राम-मिश्रजी शास्त्री, प्रोफेसर संस्कृत कालेज बनारस लिखते हैं-

“मैं कहाँ तक कहूँ बड़े-बड़े नामी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में जो जैन मत का खंडन किया है वह ऐसा किया है जिसे सुन देख हँसी आती है, स्याद्वाद यह जैनधर्म का एक अभेद्य किला है, उसके अन्दर वादी प्रतिवादियों के मायामय गोले नहीं प्रवेश कर सकते।”

जर्मन विद्वान प्रौ० हर्मन जेकोवी स्याद्वाद का गुणगान करते हुए लिखते हैं -

(६१)

“जैनधर्म के सिद्धान्त प्राचीन भारतीय तत्त्वज्ञान और धार्मिक पद्धति के अभ्यासियों के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इस स्याद्वाद से सर्व सत्य विचारों का द्वार खुल जाता है।”

इंडिया आफिस लन्दन के प्रधान पुस्तकालयाध्यक्ष डा. थामस के उद्गार बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। वे कहते हैं—

“न्यायशास्त्र में जैन न्याय का स्थान बहुत ऊंचा है। स्याद्वाद का स्थान बड़ा गम्भीर है। वह वस्तुओं की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालता है।”

भारतीय विद्वानों में विख्यात निष्पक्ष आलोचक एवं सरस्वती पत्रिका के सम्पादक स्व० पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—

“प्राचीन दर्जे के हिन्दूधर्मविलम्बी बड़े-बड़े शास्त्री तक अब भी नहीं जानते कि जैनियों का स्याद्वाद किस चिड़िया का नाम है। धन्यवाद है जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैण्ड के कुछ विद्यानुरागी विशेषज्ञों को जिनकी कृपा से इस धर्म के अनुयायियों के कीर्तिकलाप की खोज की, और भारतवर्ष के इतर जनों का ध्यान आकृष्ट हुआ। यदि ये विदेशी विद्वान जैनों के धर्मग्रन्थों की आलोचना न करते, उनके प्राचीन लेखकों की महत्ता प्रकट न करते तो हम लोग शायद आज भी पूर्ववत् अज्ञान के अन्धकार में ही डूबते रहते।”

महात्मा गाँधीजी लिखते हैं—

“जिस प्रकार स्याद्वाद को मैं जानता हूँ, उसी प्रकार मैं उसे मानता हूँ। मुझे यह अनेकांत बड़ा प्रिय है।”

उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्य मन्त्री (वर्तमान राज्यपाल राजस्थान) डाक्टर सम्पूर्णानन्दजी लिखते हैं—

(६२)

“अनेकान्तवाद या सप्तभङ्गी न्याय जैनदर्शन का मुख्य सिद्धान्त है । प्रत्येक पदार्थ के जो सात अन्त या स्वरूप जैन शास्त्रों में कहे गये हैं, उनको ठीक रूप से स्वीकार करने में आपत्ति हो सकती है । कुछ विद्वान् भी सात में कुछ को गौण मानते हैं । साधारण मनुष्य को यह समझने में कठिनाई होती है कि एक वस्तु के लिये एक ही समय में ‘है और नहीं है’, दोनों बातें कैसे कही जा सकती हैं, परन्तु कठिनाई के होते हुए भी वस्तु स्थिति तो ऐसे ही है ।”
जैनधर्म (पुस्तक)

श्री डा० एम० बी० नियोगी, एम० ए०, एलएल० एम०, एलएल० डी०, भूतपूर्व चीफ जज नागपुर हाईकोर्ट तथा उपकुल-पति नागपुर विश्वविद्यालय, लिखते हैं —

“जैनाचार्यों की यह वृत्ति अभिनन्दनीय है कि उन्होंने ईश्वरीय आलोक (Revelation) के नाम पर अपने उपदेशों में ही सत्य का एकाधिकार नहीं बताया । इसके फलस्वरूप उन्होंने साम्प्रदायिकता और धर्मान्धता के दुर्गुणों को दूर कर दिया जिसके कारण मानव इतिहास भयंकर द्वन्द्व और रक्तपात के द्वारा कलंकित हुआ है । अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद विश्व के दर्शनों में अद्वितीय है ।.....स्याद्वाद सहिष्णुता और क्षमा का प्रतीक है, कारण वह यह मानता है कि दूसरे व्यक्ति को भी कुछ कहना है ।.....सम्यग्दर्शन और स्याद्वाद के सिद्धान्त औद्योगिक पद्धति द्वारा प्रस्तुत की गई जटिल समस्याओं को सुलझाने में अत्यधिक कार्यकारी होंगे । (जैन शासन पृष्ठ २४-२५)

श्री डा० गंगानाथ भ्मा, प्रयाग विश्वविद्यालय लिखते हैं —

“जब से मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धान्त का खंडन पढ़ा है तब से मुझे विश्वास हुआ है कि इस सिद्धान्त में बहुत कुछ है जिसे

वेदान्त के आचार्य ने नहीं समझा। और जो कुछ अब तक जैनधर्म को जान सका हूँ उससे मेरा दृढ़ विश्वास हुआ है कि यदि वे जैनधर्म को उसके मूलग्रन्थों से देखने का कष्ट उठाते तो उन्हें जैनधर्म का विरोध करने की कोई बात नहीं मिलती।”

श्री प्रो० आनन्दशंकर वाबूभाई ध्रुव लिखते हैं —

“महावीर के सिद्धान्त में बताया गया स्याद्वाद को कितने ही लोग संशयवाद कहते हैं, इसे मैं नहीं मानता। स्याद्वाद संशयवाद नहीं है, किन्तु वह एक दृष्टि-बिन्दु हमको उपलब्ध करा देता है। विश्व का किस रीति से अवलोकन करना चाहिये यह हमें सिखाता है। यह निश्चय है कि विविध दृष्टि-बिन्दुओं द्वारा निरीक्षण किये बिना कोई भी वस्तु सम्पूर्ण स्वरूप में आ नहीं सकती। स्याद्वाद (जैनधर्म) पर आक्षेप करना यह अनुचित है।

विश्व-धर्म-अहिंसा

आत्मा के स्वभाव को ‘धर्म’ कहते हैं। जिस तरह अग्नि का स्वभाव ‘उष्ण’ (गर्म) है, जल का स्वभाव शीतल (ठंडा) है, उसी तरह जगत् की समस्त आत्माओं (जीवों) का जो स्वभाव है, वह आत्मा का धर्म है।

आत्मा का स्वभाव ‘अहिंसा’ रूप है। यों तो जल को आग से तपाकर गर्म कर दिया जाता है, उसके शीतल स्वभाव को विगाड़ दिया जाता है, परन्तु गर्म जल को भी यदि आग से हटा कर अलग रख दिया जाय तो वह अपने आप ठंडा हो जाता है। इसी तरह संसार में सिंह, बाघ, चीता, भेड़िया, आदि बहुत से जीव हैं, जो दूसरे जीवों को मार कर हिंसा किया करते हैं, अतः

क्रूरता, निर्दयता, दुष्टता उनका जन्मकाल से ही स्वभाव-सा बना होता है। कसाई, मछलीमार, चिड़ीमार, भील आदि जातियों के स्त्री-पुरुष अपनी कुल-परम्परा से पशु-पक्षियों को अपनी बाल्य-अवस्था से ही मारने लगते हैं। अतः छोटे जीव-जन्तुओं को मारने कुचलने आदि में उनको कुछ संकोच नहीं होता।

मांसभक्षी जीवों की ऐसी दयाहीन प्रवृत्तियों को देखकर आशंका की जा सकती है कि अहिंसा (किसी को न मारना, किसी को कष्ट न देना) आत्मा का स्वभाव कैसे माना जावे ?

प्रश्न ठीक है। किन्तु इसका समाधान यह है कि जिस तरह जल का स्वभाव गर्म नहीं है, अग्नि के संयोग से वह गर्म हो जाता है, यदि अग्नि का संयोग नहीं रहता तो वह स्वयं ठंडा हो जाता है। इसी तरह जो पशु-पक्षी या मनुष्य निर्दय हिंसक होते हैं वह दयाहीन हिंसक प्रवृत्ति उनकी स्वाभाविक नहीं होती, किसी संसर्ग या निमित्त से उनमें होती है। फिर भी स्वाभाविक दयाभाव व अहिंसक भावना उनमें भी समय-समय पर प्रकट होती ही रहती है।

सिंह, बाघ, भेड़िया अन्य पशुओं को तो निर्दयता से मार डालते हैं किन्तु वे अपने बच्चों पर दयाभाव रखते हैं, अपने परिवार पर उनका निर्दय प्रहार नहीं होता, न उन्हें अपने ऊपर किसी शिकारी को वन्दूक भाला वाण आदि के द्वारा होने वाला आक्रमण अच्छा लगता है। इसी प्रकार अन्य जीवों की हत्या करने वाले कसाई, चिड़ीमार, धीवर आदि भी अपने लिये, अपने प्रिय परिजनों के लिये हिंसा का उपयोग नहीं करते, उन्हें अपने लिये अहिंसा की भावना बनी रहती है, अपने ऊपर किसी तरह का प्रहार होना अच्छा नहीं लगता।

इसका अभिप्राय यही है कि प्रत्येक प्राणी कम से कम अपने लिये तो अहिंसा ही चाहता है, अपने प्राणों की हिंसा किसी भी जीव को पसंद नहीं है। जो खूँखार दुष्ट जीव दूसरे को मारने, चीरने, फाड़ने, खाने के लिये सदा तैयार रहते हैं वे भी अपनी रक्षा चाहते हैं।

इस तरह जगत् के समस्त जीवों को 'अहिंसा' प्रिय है, इस कारण विश्व जगत् का धर्म 'अहिंसा' रूप हो सकता है।

महाभारत में अहिंसा का महत्त्व समझाने के लिये लिखा है—

एकतः काञ्चनो मेरुः कृत्स्ना चैव वसुन्धरा ।

जीवस्य जीवितं चैव न तत्तुल्यं युधिष्ठिर ॥

अर्थ—भीष्म पितामह युधिष्ठिर को सम्बोधन करके कहते हैं कि एक ओर तो मेरु पर्वत के बराबर सोना अथवा समस्त पृथ्वी दान के लिये रक्खी जावे और दूसरी ओर एक जीव का जीवन (जिन्दगी) रक्खा जावे तो वे बराबर नहीं हैं। अर्थात् पर्वत के बराबर सोना और समस्त पृथ्वी का दान इतना महत्त्वशाली नहीं है जितना महत्त्वशाली किसी जीव के प्राण बचाना है।

यदि किसी मनुष्य को उसकी मृत्यु के बदले में समस्त पृथ्वी का राज्य देने की घोषणा की जावे तो वह मनुष्य उस राज्य को ठुकरा देगा, अपने प्राण देने के लिये तैयार न होगा।

इसका कारण यह है कि संसार में सबसे अधिक दुःख अपनी मृत्यु का होता है। इसीलिये दीन दरिद्र, रोगी, दुःखी जीव भी मरने के लिये तैयार नहीं होता। अपने प्राणों को प्रत्येक जीव सबसे अधिक प्यारा समझता है। ऐसी दशा में समस्त जीवों का मनचाहा धर्म 'अहिंसा' ही हो सकता है।

(६६)

अहिंसा क्या है ?

अहिंसा को समझने के लिये पहले उसके प्रतिपक्षी हिंसा को समझ लेना आवश्यक है ।

किसी लोभ, क्रोध, अभिमान, अपयश, स्वार्थ आदि बुरी भावना से अपने आपको या अन्य किसी जीव को मारना, सताना दुःख देना 'हिंसा' है । यानी-दुर्भावना (बुरे विचारों) से किसी को दुःख देना या मारना हिंसा है । यदि बुरी भावना न हो उस दशा में किसी को दुःख पहुँचे तो वह हिंसा नहीं है ।

कसाई अपने लोभ के लिये वक्रे को छुरी से मारता है इस कारण वह अपनी दुर्भावना से हिंसा का पाप करता है और एक डाक्टर के हाथ से रोगी को अच्छा करने की भावना से आपरेशन (चीरा फाड़ी) करते समय रोगी की मृत्यु हो जाती है तो डाक्टर को हिंसा का पाप नहीं होता ।

माता, पिता, अध्यापक लड़के को गुणी विद्वान बनाने के लिये मारते-पीटते हैं, उस समय उस लड़के का हृदय तो दुःखी होता है, परन्तु माता-पिता या अध्यापक के हृदय में सद्भावना है, अतः उन्हें हिंसा का पाप नहीं लगता ।

इस तरह हिंसा का मूल कारण दुर्भावना है और अहिंसा का कारण सद्भावना है । दुर्भावना भी हिंसा रूप है ।

क्रोध आदि दुर्भावना से अपना शिर फोड़ना, शरीर क्षत-विक्षत (घायल) करना या आत्महत्या करना भी हिंसा है ।

इस तरह मोटे रूप से हिंसा के चार रूप होते हैं; १—दूसरे जीव की हिंसा की भावना करना, २—दूसरे जीवको मारना, घायल करना, दुःख पहुँचाना । ३—अपने आपको मारने, घायल

करने की भावना, ४—अपने आप को मारना या आत्महत्या करना ।

इसलिये हिंसा पाप से बचने के लिये अपनी भावना शुद्ध रखनी चाहिये । जिस तरह हम अपने लिये दुःख नहीं चाहते, जिस तरह हमको छुरी, बन्दूक, तलवार आदि की चोट से दुःख होता है उसी तरह दूसरे जीवों को भी दुःख होता है । इस प्रकार अपना तथा अन्य जीवों का दुःख अपने हृदय में अनुभव करके मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह हिंसा का त्याग करे ।

हिंसा का त्याग करना ही अहिंसा है । हिंसा सबसे बड़ा पाप है और अहिंसा सबसे बड़ा धर्म है ।

यदि संसार में सभी जीव हिंसा करने वाले हो जावें तो संसार का नाश हो जावे, कोई भी जीव जीवित न बचे, इसलिये हिंसा विनाश करने वाला सबसे बुरा पाप है । यदि संसार के समस्त जीव अहिंसा का पालन करें तो संसार में किसी को कोई दुःख न हो, सब जीव सुख शान्ति आनन्द से रहें । इस कारण अहिंसा सबसे उत्तम धर्म है ।

जहाँ हिंसा है वहाँ धर्म नहीं है या जहाँ धर्म है वहाँ हिंसा नहीं है । जहाँ अहिंसा है वहाँ पाप नहीं है, जहाँ पाप नहीं है वहाँ अहिंसा है । अहिंसा से सबको सुख होता है और हिंसा से सबको दुःख होता है ।

हिंसा करने से वैरभाव उत्पन्न होता है । वैरभाव से बदला लेने के लिये फिर हिंसा की जाती है । इस तरह हिंसा प्रतिहिंसा की परम्परा चलती रहती है । वह हिंसा प्रतिहिंसा की परम्परा तब ही मिटती या शान्त होती है जब कि उन दोनों में से एक

(६८)

पक्ष वाला हिंसा की भावना छोड़ देता है, अहिंसक शान्त बन जाता है ।

अहिंसा से शान्ति का प्रसार (फैलाव) होता है । जिसका असर आसपास के जीवों के हृदय पर पड़ता है । भगवान् महावीर का उपदेश सुनने के लिये जैसे गृहस्थ स्त्री-पुरुष, साधु-साध्वी आते थे उसी तरह पशु-पक्षी भी आते थे । उन पशु-पक्षियों में जो सिंह, चीता, भेड़िया आदि हिंसक जीव होते थे, भगवान् महावीर की अहिंसा का प्रभाव उन हिंसक जीवों के हृदय पर ऐसा पड़ता था कि उनके पास में हिरण, गाय आदि पशु निर्भय बैठे रहते थे । सिंह, चीता आदि उनको अपने बच्चों के समान समझते थे । सिंहनी हरिणी के बच्चे को प्रेम से दूध पिलाती थी और सिंहनी का बच्चा हरिणी का दूध पीता था । किसी भी दुष्ट जीव में हिंसक दुष्ट भावना न रहती थी ।

स्वामी रामतीर्थ को हरिद्वार के निकट वन में घूमते हुए शेर-शेरनी मिले किन्तु उन के शरीर को छूते हुए चुपचाप चले गये । स्वामी रामतीर्थ ने प्रेम से उनके शरीर पर हाथ फेरा ।

इस तरह अहिंसा का प्रभाव हिंसक जीवों की दुष्ट निर्दय भावना को दूर करके उन्हें शान्त बना देता है ।

इस प्रकार हिंसा संसार में हिंसा, क्षोभ, भय, द्वेष, वैर, अशान्ति का वातावरण उत्पन्न करती है और अहिंसा संसार में शान्ति, प्रेम, मित्रता, निर्भयता का वातावरण बनाती है । हिंसा एक तरह की भयानक आग है और अहिंसा मधुर शीतल जल के समान है ।

इस कारण मनुष्य जिस तरह किसी जीव की भूख मिटाने के लिये अपने शरीर का मांस नहीं देना चाहता, अपना शरीर सुरक्षित रखना चाहता है, उसे कोई कष्ट नहीं होने देना चाहता,

(६६)

इसी तरह अन्य जीव भी अपने शरीर का मांस किसी को नहीं देना चाहते । इसलिये मनुष्य को दयालु बनना चाहिये, दुष्ट निर्दय डाकू की तरह दूसरे किसी जीव का प्राणघन अपनी भूख मिटाने के लिये बलपूर्वक (जबर्दस्ती) नहीं छीनना चाहिये ।

जो जीव स्वभाव से मांस खाने वाले होते हैं वे जीभ से लप-लप कर पानी पीते हैं, उनके दाँत गोल नोकीले होते हैं, उनके भोजन चवाने के लिये डाढ़ें नहीं होतीं, इसलिये वे भोजन चबाते नहीं हैं, चीर फाड़ कर विना चबाये खा जाते हैं । जैसे सिंह, बाघ, भेड़िया, कुत्ता, बिल्ली आदि ।

मनुष्य में ऐसी कोई भी बात नहीं है । मनुष्य पानी घूँट भर कर पीता है, उसके दाँत चपटे हैं, गोल नोकीले नहीं होते, उसके भोजन चवाने के लिये डाढ़ें होती हैं । घास-पात खाने वाले गाय, घोड़ा आदि जानवरों के दाँत भी मनुष्यों के समान होते हैं तथा उनके पानी पीने का ढंग भी मनुष्य का-सा होता है ।

इस कारण मनुष्य स्वभाव से अन्न, फल, शाक पत्र खाने वाला प्राणी है, मांसभक्षी नहीं है ।

जिन मनुष्यों ने मांसभक्षी पशुओं को देखकर अपना स्वभाव विगाड़ लिया है, वे ही दूसरे जीवों की हिंसा करना तथा मांस खाना बुरा नहीं समझते । ऐसे मांसलोलुपी मनुष्यों ने भगवान्, देवी, देवता के नाम पर बकरी, भैंसा, गाय, सूअर, हिरण, मुर्गा आदि जीवों को मारकर बलि (कुर्बानी) करने की प्रथा चलाकर संसार को तथा अपने आपको धोखा दिया है । धर्म के नाम पर हिंसा (पाप) को फैला दिया है ।

मांस में (चाहे वह कच्चा हो, पका हुआ हो, सूखा हो या गीला) सदा असंख्य कीटाणु उत्पन्न होते रहते हैं, इस कारण

(१००)

मांस खाने से एक ही जीव की हिंसा नहीं होती, अपितु असंख्य कीटाणुओं की भी हिंसा होती है ।

किसी भी मत में किसी जीव को दुःख देना, मारना तथा मांस खाना धर्म नहीं बतलाया । मांसलोलुपी, स्वार्थी लोगों ने अपनी दुर्वासना सिद्ध करने के लिये धर्मग्रन्थों में हिंसा करने की बातें मिला दी हैं ।

बौद्ध धर्म के संस्थापक महात्मा गौतम बुद्ध गृहस्थ-अवस्था से ही बहुत दयालु थे । घर बार छोड़कर वे पहले जैन साधु बने । फिर कुछ दिन पीछे लाल कपड़े पहन कर उन्होंने नया पन्थ चलाया । उस साधु अवस्था में भी उन्होंने यज्ञों में होने वाली पशु हिंसा को रोकने के लिये अहिंसा का खूब प्रचार किया ।

उन गौतम बुद्ध के विषय में यह कहा जाता है कि एक बार उन्होंने मरी हुई मछली को हिंसा से निर्दोष समझकर खा लिया था । और अपने शिष्यों को त्रिकोटि-शुद्ध (न स्वयं किसी जीव को मार कर मांस लो, न किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किसी जीव को मरवा कर मांस लो, न किसी से अपने खाने को मांस देने की प्रेरणा करो, फिर भी यदि कोई अपने आप मांस तुम्हें दे दे तो ले लो) मांस खाने की अनुमति दे दी थी । इसी कारण बौद्ध धर्म के अनुयायी गृहस्थ तथा साधुओं में मांस खाने की प्रवृत्ति फैल गई है ।

यह बात कहाँ तक सत्य है, यह कुछ नहीं कहा जा सकता । उन्होंने ग्रन्थों में मांसभक्षण का बहुत निषेध किया है । परन्तु गौतम बुद्ध को अपने जीवन काल में यह बात जँच गई थी कि मेरे अनुयायी भविष्य में मांसभक्षण करने लगेंगे । तभी उन्होंने वैसी भविष्यवाणी की थी ।

हम यहाँ बौद्ध ग्रन्थों का प्रमाण देकर इस विषय पर प्रकाश डालते हैं जिससे गौतम बुद्ध की भावना का परिचय बौद्ध तथा बौद्धेतर जनता को मिले ।

लंकावतार सूत्र बौद्ध मत का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है । सन् १६२२ में प्रकाशित लंकावतार सूत्र में लिखा है—

मद्यं मांसं पलांडुं च न भक्षयेयं महामते ।

बोधिसत्त्वैर्महासत्त्वैर्महादिवज्जिनपुंगवैः ॥१॥

मांसानि च पलांडूश्च मद्यानि विविधानि च ।

गृज्जानं लशुनं चैव योगी नित्यं विवर्जयेत् ॥५॥

लाभार्थं हन्यते सत्त्वो मांसार्थं दीयते धनं ।

उभौ तौ पापकर्माणौ पच्येते रौरवादिषु ॥६॥

हस्तिकक्ष्ये महामेघे निर्वाणांगुलिमालिके ।

लंकावतारसूत्रे च मया मांसं विवर्जितम् ॥१६॥

तथैव रागो मोक्षस्य अन्तरायकरो भवेत् ।

तथैव मांसमद्याद्यप्यन्तरायकरो भवेत् ॥१०॥

तस्मान्न भक्षयेन्मांसमुद्वेजनकरं नृणाम् ।

मोक्षधर्मविरुद्धत्वादार्याणामेष वै ध्वजः ॥२४॥

भावार्थ—हे महामते ! बौद्धमती महाबौद्धमती किसी को भी मांस, मदिरा, प्याज नहीं खाना चाहिये ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है । ॥१॥

मांस, प्याज, नाना प्रकार की मदिरा, गाजर, लशुन का योगी को सदा निषेध है । ॥५॥

जो प्राणी लोभ के लिये प्राणी को मारते हैं व मांस के लिये धन देते हैं, दोनों ही पापी रौरवादि नरकों में जायेंगे । ॥६॥

(१०२)

हस्तिकक्ष्य में, महामेघ में, निर्वाणांगुलिमालिका में और लंकावतार सूत्र में मैंने मांस का निषेध किया है । ११५।

जैसे मोक्ष के लिये राग विघ्नकारी है वैसे मांस मद्यादि विघ्नकारी हैं । ११०।

इसलिये मांस को नहीं खाना चाहिये । यह प्राणियों को भयोत्पादक है । यह मोक्ष धर्म के विरुद्ध है । मांस न खाना यही आर्यों की ध्वजा है । १२४।

“यदि च महामते मांसं न कथंचन केचन भक्षयेयुर्न तन्निदानं घातेरन् । मूल्यहेतोर्हि महामते प्रायः प्राणिनो निरपराधिनो बध्यन्ते स्वल्पादन्यहेतोः, कष्टं महामते रसतृष्णायामन्तिसेवितां मांसानि मानुष्याण्यपि मानुषैर्भक्ष्यन्ते किं पुनरितरमृगपक्षिप्राणिसम्भूतमांसानि, प्रायो महामते मांसरसतृष्णार्तेरिदंतया तथाजाल-यंत्रमाविद्धं मोहपुरुषैर्यच्छाकुनि-कौर-भ्रककैवर्तदियः विचर-भूचरजलचरा प्राणिनोऽनपराधिनोऽनेकप्रकारं मूल्यहेतोर्विश-सन्ति ।”

भावार्थ—मांस को न कभी खाना चाहिये न उसके लिये घातना चाहिये । मूल्य के लिये ही प्रायः निरपराधी प्राणी वध किये जाते हैं अन्य हेतु से कम । यह बड़ा कष्ट है कि रसकी तृष्णा से मांस की लोलुपता से मनुष्य को भी खाने लगते हैं तो फिर मृग, पक्षी आदि के मांस की तो बात ही क्या ? मांस खाने वालों के लिये चिड़ीमार, भेड़मार, मछलीमार जाल व यंत्रों से पक्षी, मृग, मत्स्य आदि निरपराधी प्राणियों की अनेक प्रकार मात्र पैसे के लिये हिंसा करते हैं ।

(१०३)

महात्मा बुद्ध की भविष्यवाणी

“न च महामतेऽकृतकमकारितमसंकल्पितं नाम मांसं कल्प्यमस्ति यदुपायानुजानीयं श्रावकेभ्यः । भविष्यति तु पुनर्महामतेऽनागतेऽध्वनिममैव शासने प्रव्रजित्वा शाक्यपुत्रीयत्वं प्रतिजानानाः काषाय-ध्वजधारिणो मोहपुरुषा मिथ्यावितर्कोपहतचेतसो विविधविनय-कल्पवादिनः सत्कायदृष्टियुक्ताः रसतृष्णाध्ववसितासां तां मांस-भक्षणहेत्वाभासां ग्रन्थयिष्यन्ति । मम चाभूताख्यानं दातव्यं मन-स्यन्ते तत्तदर्थोत्पत्तिनिदानं कल्पयित्वा वक्ष्यन्ति । इयं अर्थोत्पत्ति-रस्मिन्निदाने भगवता मांसभोजनमनुज्ञातं कल्प्यमिति । प्रणीत-भोजनेषु चोक्तं स्वयं च किल तथागतेन परिमुक्तमिति । न च महामते कुत्रचित्सूत्रे प्रतिसेवितव्यमित्यनुज्ञातं प्रणीतभोजनेषु वा देशितं कल्प्यमिति ।

हे महामते ! कोई मांस अकृत अकारित व असंकल्पित लेने योग्य नहीं है, जिसे लेकर मैं श्रावकों को आज्ञा करूँ । हे महा-मते ! भविष्य में मेरे ही शासन में ऐसे व्यक्ति होंगे जो साधु-दीक्षा लेकर, शाक्यपुत्र की आज्ञा मानने वाले होकर, गेरुआ रंग की ध्वजा धारण करने वाले होकर, मोही पुरुष मिथ्या तर्क चित्त में उठा-कर आचार के विविध भेद कहेंगे । शरीर में ही जिनकी दृष्टि होगी, रसकी तृष्णा में रागी होंगे वे मांसभक्षण के लिये खोटे हेतुओं को बना लेंगे । जो बात मैंने नहीं कही है उसे वे मानेंगे व जिससे मांसाहार पुष्ट हो, ऐसी बात कहेंगे—‘इसी कारण भगवान् ने मांस की आज्ञा दी है ऐसी कल्पना करेंगे । भक्ष्य भोजनों में मांस कहा है व स्वयं भगवान् ने मांस खाया है ।’ परन्तु हे महामते ! मैंने किसी भी सूत्र में मांस को सेवने योग्य

(१०४)

नहीं कहा है, न आज्ञा दी है, न उत्तम भोजन में कहा है, न लेने योग्य कहा है ।

नोट—आज बुद्धभक्त व बुद्धेतर जनता बुद्ध के नाम पर मांस खाने का असत्य प्रचार कर रही है । अतः बुद्ध की भविष्यवाणी सत्य हो रही है ।

“न हि महामते आर्यश्रावकाः प्राकृतमनुष्याहारमाहरन्ति कुत एव मांसरुधिराहारमकल्प्यं । धर्माहारा हि महामते मम श्रावकाः प्रत्येकबुद्धा बोधिसत्वाश्च नामिषाहाराः प्रागेव तथागताः । धर्मकाया हि महामते तथागता धर्माहारस्थितयो नामिषकाया न सर्वाभिषाहारस्थितयो वान्तसर्वभवोपकरणतृष्णैषणावासनासर्वक्लेशदोषवासनापगताः सुविमुक्तचित्तप्रज्ञाः सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः सर्वसत्त्वैकपुत्रकसमदर्शिनो महाकारुणिकाः । सोऽहं महामते सर्वसत्त्वैकपुत्रकसंज्ञी सन् कथमिव स्वपुत्रमांसमनुज्ञास्यामि परिभोक्तुं श्रावकेभ्यः कुत एव स्वयं परिभोक्तुम् । महामते नेदं स्थानं विद्यते ।”

हे महामते ! आर्यश्रावकगण (धर्मात्मा व्यक्ति) स्वाभाविक मनुष्य का आहार भी नहीं लेते हैं तब फिर वे असेवने योग्य मांस रुधिरका आहार कैसे लेंगे ? हे महामते ! मेरे श्रावक धर्म पर चलने वाले हैं । ऐसे ही प्रत्येक बुद्ध व बोधिसत्त्व हैं, मांसाहारी नहीं हैं । पहले भी तथागत ऐसे ही थे । हे महामते ! तथागत धर्मरूप शरीर धारते हैं, उनकी स्थिति धार्मिक आहार से है, उनका शरीर मांसाहारी नहीं है । सर्व प्रकार के मांस को वे नहीं लेते हैं, उन्होंने सर्व संसार की वस्तुओं की तृष्णा की वासना का त्याग कर दिया है, वे सर्व क्लेशकारी दोष की वासना से दूर हैं । वैराग्यवान व प्रज्ञावान हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं, सर्व प्राणियों को

(१०५)

एक पुत्रवत् देखने वाले हैं । महा दयावान हैं । हे महामते ! सौ ही मैं सर्व प्राणिमात्र पर पुत्र की बुद्धि रखने वाला कैसे अपने ही पुत्र के मांस की आज्ञा दूँगा श्रावकों को खाने के लिये व कैसे स्वयं मांस खाया है । महामते ! इसका कोई स्थान नहीं है ।

बुद्ध के वचन और लंकावतार देखने से मालूम पड़ता है कि स्वयं महात्मा बुद्ध ने मांस नहीं खाया और अपने भक्त और साधुओं को भी सर्वथा त्याज्य और हेय बतलाया ।

“इहैव च महामते जन्मनि सप्तकुटीरकेऽपि ग्रामे प्रचुरमांस-लौल्यादतिप्रसंगेन निषेवमाना मानुषमांसादाघोराडाकावडाकिन्यश्च संजायन्ते । जतिपरिवर्ते च महामते तथैव मांसरक्षाध्यवसानतया सिंहव्याघ्रद्वीपिवृकतरक्षुमार्जारजंबूकोलूकादिप्रकुरलांसदयोनिषु विनिपात्यन्ते ।”

भावार्थ — इसी जन्म में प्रचुर मांस की लोलुपता से मनुष्य मांस के खाने वाले अघोर डाक-डाकिनी हो जाते हैं । फिर मरने पर उसी ही मांस रस के संकल्प के कारण सिंह, बाघ, चीता, कौआ, भेड़िया व बिलाव, स्यार, उल्लू आदि मांसभक्षी योनियों में पड़ते हैं ।

“अनार्यजनजुष्टं दुर्गन्धमकीर्तिकरत्वादपि महामते आर्यजन विवर्जितत्वात्तु मांसमभक्ष्यं बोधिसत्वस्य, ऋषिभोजनाहारो हि महामते आर्यजनो, न मांसरुधिराहार इत्यतोऽपि बोधिसत्वस्य मांसमभक्ष्यं ।”

यह मांस दुर्गन्धमय है । अपयशका कारण है, म्लेच्छों द्वारा सेवित है, आर्यजनों द्वारा वर्जनीय है । ऐसा मांस बौद्धानुयायी के लिये अभक्ष्य है । आर्यजन ऋषियों के भोजन के समान भोजन

(१०६)

करते हैं, मांस रुधिर का आहार नहीं करते हैं। इसलिये भी बौद्ध को मांस अभक्ष्य है।

“शुक्रशोणितसंभवादपि शुचिकामतामुपादाय बोधिसत्वस्य मांसमभक्ष्यं ।”

भावार्थ — यह मांस वीर्य और रुधिर से उत्पन्न होता है। इसलिये पवित्रता को चाहने वाले बौद्ध के लिये मांस अभक्ष्य है।

“उद्धेजनकरत्वादपि महामते भूतानां मैत्रीमिच्छतो योगिनो मांसं सर्वमभक्ष्यं बोधिसत्वस्य । तद्यथापि महामते डोम्बचांडाल-कैवर्तदीच्छपिशिताशिनः सत्त्वान् दूरत एव दृष्ट्वा श्वानः प्रभयन्ति भयेन मरणप्राप्ताश्चैके भवन्त्यस्मानपि मारयिष्यन्तीति, एवमेव महामतेऽन्येपि खभूजलसंश्रितानसूक्ष्मजन्तवो ये मांसाशिनो दर्शनाद्दूरादेव वटुना घ्राणेनाघ्राय गन्धं राक्षसस्येव मानुषाद्भुतमुपसर्पयन्ति मरणसंदेहाश्चैके भवन्ति ।”

भावार्थ—यह भय उत्पन्न कराने वाला है। इसलिये भी महामते ! सर्व प्राणियों के साथ मैत्री चाहने वाले बौद्ध योगी को सर्व मांस अभक्ष्य है। जैसे डोम, चांडाल, मछलीमार, मांसाहारी मानुषों को दूर से ही देखकर कुत्ते डर जाते हैं, भय से मर तक जाते हैं, उनको भय होता है कि ये हमको मारेंगे। इसी तरह महामते ! अन्य जो आकाशगामी, पृथ्वीचर, जलचर जीव-जन्तु हैं वे मांसाहारी को दूर से देखकर व अपनी नाक से उनकी गन्ध जानकर, राक्षस के समान मनुष्य को जानकर, मरण के संदेह से शीघ्र भाग जाते हैं।

सुत्तनिपात धम्मिक सुत्त —

“पाणं न हाने च घातयेय्य न चानुजंज्य हनतं परेसं । सव्वेसु भूतेसु निधायदंडं ये थावरा ये चेतसंति लोके ।”

(१०७)

भावार्थ—सर्व प्राणियों पर दया रख के जो लोक में स्थावर जीव हों या त्रस जीव हों उनमें से किसी के प्राण न लेना चाहिये, न उनका घात करना चाहिये, न घात होने की अनुमोदना करना चाहिये ।

नोट—उपरोक्त कथन पढ़ने से सिद्ध होता है कि महात्मा बुद्ध ने मांस नहीं खाया और अपने शिष्यों को मांस खाने का उपदेश भी नहीं दिया तथा मांस खाने में महान् पाप बतलाया, परन्तु धर्मानन्द कौसाम्बी ने भ० बुद्ध नामक किताब में बुद्ध पर मांस खाने का आरोप किया है । कौसाम्बी ने एक तरफ बुद्ध को महात्मा भगवान् बतलाया है और दूसरी तरफ मांसाहारी बतलाया है । मांसाहारी कभी भी महात्मा नहीं हो सकता । यदि मांसाहारी को महात्मा कहा जावे तो सिंह को भी महात्मा कहने में क्या दोष है ?

Sacred book of Buddhist Vol. III Rys Davids Digha Nikaya P. II (1910) to page 1 ro - At Vesali - he had finished eating the rice.

वैशाली में बुद्ध ने भात का भोजन किया ।

Page 133—Now when the exalted one had eaten the rice prepared by Chunda the worker in metals, these fell upon him a dive sickness the disease of dysentery and sharp pain came upon him, even unto death.

भावार्थ—जब गौतम बुद्ध ने चुंदा सुनार का तैयार किया हुआ भात खालिया तब उनको पेचिस की भारी बीमारी होगई जो मरणपर्यंत कष्टदायक रही ।

महात्मा बुद्ध कहते हैं—

“अनुज्ञातवान्पुनरहं पूर्वर्षिप्रणीतभोजनं यदत् शालियव-
गोधूममुद्गमाषमसूरादिसर्पितैलमधुफाणितगुडखण्डमत्सर्पिण्डिका-
दिषु समुपद्यमानं भोजनं कल्प्यमिति कृत्वा ।”

(१०८)

भावार्थ—हे महामते ! मैं यह आज्ञा कर चुका हूँ कि पूर्व ऋषि प्रणीत चावल, जौ, गेहूँ, खांड, मिश्री आदि से उत्पन्न भोजन लेना योग्य है ।

इसको पढ़ने से यह सिद्ध होता है, कि बुद्धानुयायी किसी भी गृहस्थ या साधु को मछली का व अन्य कोई पशु का मांस कभी भी नहीं लेना चाहिये ।

इस प्रकार महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों को मांस खाने का विलकुल निषेध किया है । जो बौद्ध व्यक्ति त्रिकोटि-शुद्ध (अकृत, अकारित, असंकल्पित) मांस खाने के लिये महात्मा बुद्ध की अनुमति बतलाते हैं, वे जनता को धोखा देते हैं । श्री गौतम बुद्ध ने अकृत (स्वयं न बनाया गया), अकारित (दूसरों से न बनाया गया), असंकल्पित (अपने लिये दूसरों से न बनाया गया) मांस का लेना भी निषिद्ध ठहराया है ।

अतः जो बौद्ध मत के अनुयायी भिक्षु-भिक्षुणी अथवा गृहस्थ नर-नारी मांसभक्षण करने लग गये हैं, वे अपने आराध्य महात्मा बुद्ध की आज्ञा का उल्लंघन कर रहे हैं ।

हिन्दूधर्म

‘हिन्दू’ शब्द ‘सिन्धु’ शब्द के अशुद्ध उच्चारण के रूप में प्रचलित हुआ है । सिन्ध नदी वाले देश को (भारत को) अरब निवासी ‘सिन्धुस्थान’ कहते थे । ‘सिन्धु’ भारत के पंजाब तथा सिन्ध प्रान्त में बहने वाली प्रसिद्ध नदी है । पश्चिम की ओर से आने वाले अरब के व्यापारियों को भारत में प्रवेश करते समय सबसे बड़ी नदी ‘सिन्धु’ ही मिलती है । अतः इस नदी के नाम पर वे इस देश को ‘सिन्धुस्थान’ कहते थे ।

(१०६)

परन्तु अरब के स्त्री पुरुष 'स' अक्षर को 'ह' बड़ी सरलता से उच्चारण करते हैं। इसी कारण वे 'सप्ताह' को 'हफ्ता' कहते हैं। निम्नलिखित श्लोक से भी यह बात प्रसिद्ध है—

आशीर्वादोपि नो ग्राह्यो, मरुस्थलनिवासिनाम् ।

शतायुरिति वक्तव्ये हतायुरिति वादिनाम् ॥

अर्थ—रेगिस्तानी देश में रहने वालों का (अरब में बहुत भारी रेगिस्तान है) आशीर्वाद भी लेना उचित नहीं है। क्योंकि वे यदि आशीर्वाद के रूप में किसी को 'शताय' (तुम्हारी आयु सौ वर्ष की हो) कहें तो उनके मुख से 'शतायु' की वजाय हतायु निकलता है। 'हतायु' का अर्थ 'मरना' होता है।

यानी—वह आशीर्वाद भी गलत उच्चारण के कारण बुरा शाप बन जाता है। तुम सौ वर्ष जिम्मे के वजाय 'तुम मर जाओ' हो जाता है।

इस श्लोक की प्रसिद्धि के अनुसार भी अरब, ईरान आदि के लोग भारत को 'सिन्धुस्थान' कहने के वजाय अपने स्वाभाविक उच्चारण के कारण 'हिन्दुस्थान' कहने लगे। अतः भारत में रहने वाली जनता हिन्दुस्थान शब्द के अनुसार 'हिन्दू' कही जाने लगी।

भारतीय जनता में वैदिक पौराणिक धर्मानुयायियों की संख्या अधिक रही, अतः 'हिन्दू' शब्द वैदिक या पौराणिक जनता के लिये रूढ़ हो गया।

तब 'हिन्दू' शब्द का स्वच्छ श्रेष्ठ अर्थ प्रकट करने के लिये 'हिन्दू' शब्द के दो टुकड़े करके (हिन्+दू=हिन्दू) 'हिंसा पाप से दूर रहने वाला' अर्थ किया गया, जो कि बहुत कुछ सार्थक भी है।

(११०)

क्योंकि गाय बकरा आदि पशुओं को छुरी निर्दयता के साथ कत्ल करने का व्यापार मुसलमान कसाई ही प्रायः किया करते हैं, यह कार्य हिन्दू लोग नहीं करते ।

तथा चार वर्णों में ब्राह्मण वर्ण सबसे उत्तम माना गया, उसका कारण भी यह रहा कि ब्राह्मण हिंसा, मांसभक्षण, मदिरापान आदि निन्दनीय पाप कार्य नहीं करते थे, पढ़ाना, उपदेश करना, धर्म कर्म आदि शुभ कार्य करते थे, अब भी अधिकतर ब्राह्मण ऐसा ही करते हैं ।

किन्तु प्रतीत होता है कि कुछ मनुष्य मांसभक्षण के लोलुपी बन गये । अतः अपनी लोलुपता पुष्ट करने के लिये उन्होंने वेद-मन्त्रों का अर्थ गाय, बकरा, घोड़ा आदि पशुओं को छुरी तलवार आदि से काटकर उनके मांस से यज्ञ करने, मांस खाने का रूप कर दिया । साधारण अबोध जनता उनके कहने को सत्य समझकर पशुओं को मार कर यज्ञ करने लगी ।

ऐसे पशुओं के होम को उचित ठहराने के लिये मांसलोलुपी लोगों ने उस हिंसाकृत्य को लोकप्रिय धर्म कार्य ठहराने के लिये कुछ श्लोक बना दिये । जैसे कि—

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः, स्वयमेव स्वयम्भुवा ।

अर्थ—यज्ञ में हवन करने के लिये ही ब्रह्मा ने गाय बकरा हिरण आदि पशु उत्पन्न किये हैं ।

या वेदविहिता हिंसा, नियतास्मिश्चराचरे ।

अहिंसामेव तां विद्यात्, वेदाद्धर्मो विनिर्ययौ ॥

अर्थ—इस चर अचर जगत् में जो वेदमन्त्रों के अनुसार हिंसा नियत की गई है, उस हिंसा को पाप न मान कर 'अहिंसा' धर्म ही समझना चाहिये । क्योंकि धर्म वेद से ही प्रकट हुआ है ।

(१११)

ऐसी अनुचित प्रवृत्ति के कारण जैनधर्म ने तथा बौद्धधर्म ने वेदों को प्रमाण नहीं माना ।

आर्यसमाज के संस्थापक श्री स्वामी दयानन्दजी सरस्वती को वेदों में हिंसा-विधान की बात रुचिकर प्रतीत न हुई, अतः उन्होंने चारों वेदों का नया भाष्य किया, हिन्दी भाषा में नया अर्थ किया, उसमें उन्होंने कहीं भी हिंसा का विधान नहीं आने दिया । अस्तु ।

वेदों में हिंसा का विधान है या नहीं, वह उचित है या अनुचित ? इस विषय पर हम यहाँ विचार नहीं करते, इस विषय पर विचार निष्पक्ष दूरदर्शी वैदिक विद्वानों को करना चाहिये । हमारी धारणा तो यह है कि 'धर्म अहिंसा रूप ही हो सकता है, हिंसा रूप नहीं हो सकता ।' क्योंकि हिंसा वह चाहे मनुष्य की हो या किसी पशु-पक्षी की हो, हिंस्य (जिस जीव को मारा जाता है) प्राणी के लिये महान् दुःखदायक है । अनुचित दुःखदायक कार्य धर्मरूप नहीं होता, पापरूप ही होता है, जैसे चोरी डकैती आदि ।

उपनिषदों, पुराणों आदि वैदिक धर्मग्रन्थों में भी अन्य प्राणी को सताना, मारना, मांस खाना आदि निषिद्ध (छोड़ने योग्य) बतलाया है । यहाँ हम कुछ प्रमाण उन ग्रन्थों के रखते हैं ।

महाभारत के शान्ति पर्व अ० २६५ में अहिंसा का सुन्दर प्रतिपादन किया है—

अहिंसा सर्वभूतेभ्यो, धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ।

सुरामत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम् ॥

धूर्तः प्रवर्तितं ह्येतत्, नैतद् वेदेषु कल्पितम् ॥६॥

मानान्मोहाच्च लोभाच्च, लौल्यादेतत् प्रकल्पितम् ॥६॥

(११२)

विष्णुमेवाभिजानन्ति, सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणाः ।

पायसैः सुमनोभिश्च, तस्यापि यजनं स्मृतम् ॥११॥

प्राणियों की हिंसा न करना ही सब धर्मों में श्रेष्ठ है । मद्य, मांस, मछली, मधु, आसव और तिल मिले हुए चावलों का भक्षण, अभिमान, मोह, लोभ और लोलुपता से धूर्तों के द्वारा प्रचलित किया गया है । यह सब वेदों में नहीं है । ब्राह्मण लोग सब यज्ञों में विष्णुः (व्यापक परमात्मा) को ही जानते हैं (यज्ञो वै विष्णुः यह कहा गया है) । उनकी पूजा तो दूध और फूलों से कही गई है ।

महाभारत में यहाँ तक लिखा है—

मद्यमांसाशनं रात्रौ भोजनं कन्दभक्षणम् ।

ये कुर्वन्ति वृथा तेषां तीर्थयात्रा जपस्तपः ॥

चातुर्मास्ये तु सम्प्राप्ते रात्रिभोज्यं करोति यः ।

तस्य शुद्धिर्न विद्येत चान्द्रायणशतैरपि ॥

यानी—जो मनुष्य शराब पीते हैं, मांस खाते हैं, रात को भोजन करते हैं, कन्दमूल खाते हैं, उनको तीर्थयात्रा और जप तप करना व्यर्थ है । जो वर्षा के चार महीनों में रात के समय खाते हैं उनकी शुद्धि सैकड़ों चान्द्रायणव्रत करने से भी नहीं होती ।

रुद्रपुराण में लिखा है—

सर्वे तनुभृतस्तुल्या यदि बुद्ध्या विचार्यते ।

इदं निश्चित्य केनापि न हिंस्यः कोऽपि कुत्रचित् ॥

अर्थ—यदि विचार किया जावे तो समस्त जीव एक समान हैं, ऐसा निश्चय करके कोई भी जीव कहीं भी मारना उचित नहीं है ।

(११३)

मनुस्मृति में लिखा है—

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन, यो यजेत् शतं समाः ।

मांसानि न च खादेत्, तयोः पुण्यफलं समम् ॥५-५३॥

यानी—जो मनुष्य सैकड़ों वर्षों तक प्रतिवर्ष अश्वमेध यज्ञ करे और जो मनुष्य मांस भक्षण न करे, उन दोनों का पुण्यफल एक समान है ।

भागवत में लिखा है—

सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च तपोदानानि चानघ ।

जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपि ॥३-७-१३॥

अर्थ—समस्त वेदों का पाठ, समस्त यज्ञ, तप और बड़े बड़े दान; जीवरक्षा के एक अंश के बराबर भी नहीं हैं ।

महाभारत में देखिये—

अहिंसा लक्षणो धर्मो ह्यधर्मः प्राणिनां वधः ।

तस्माद् धर्मात्थिभिलोकैः कर्तव्या प्राणिनां दया ॥

यानी — धर्म का लक्षण अहिंसा है, जीवों का मारना अधर्म है । इस कारण धर्म के इच्छुक पुरुषों को प्राणियों पर दया करनी चाहिये ।

कपिलानां सहस्राणि यो द्विजेभ्यः प्रयच्छति ।

एकस्य जीवितं दद्यात् स च तुल्यं युधिष्ठिर ॥

अर्थ — एक मनुष्य जो कि ब्राह्मणों को हजारों गाय दान करता है और एक पुरुष जो कि किसी का जीवन बचाता है, हे युधिष्ठिर ! वह उस हजारों गाय दान करने वाले के बराबर है ।

यानी—एक जीव की रक्षा हजारों गायों के दान करने के बराबर है ।

(११४)

गरुड़ पुराण में लिखा है—

अहिंसा परमोधर्मः पापमात्मप्रपीडनम् ।

अर्थ—अहिंसा परम धर्म है और जीवों को सताना परम पाप है ।

मार्कण्डेय पुराण में लिखा है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ।

यानी—व्यास ऋषि-रचित १८ पुराणों का सार दो बातों में है—१. अन्य जीव का उपकार करना पुण्य है और २. अन्य जीव को दुःख देना पाप है ।

विष्णु पुराण में लिखा है—

अल्पायुषो दरिद्राश्च, परकर्म्मोपजीविनः ।

दुष्कुलेषु प्रजायन्ते ये नरा मांसभक्षकाः ॥

अर्थ—जो मनुष्य मांस खाते हैं वे अल्पायु (छोटी उम्र वाले), दीन, दरिद्र, दास होते हैं तथा नीच कुलों में जन्म लेते हैं ।

महाभारत के अनुशासन पर्व में कहा है—

स्वमांसं परमासेन, यो वर्द्धयितुमिच्छति ।

नास्ति क्षुद्रतरस्तस्मात् स नृशंसतरो नरः ॥अ० ११६॥

यानी—जो मनुष्य अन्य जीव का मांस खाकर अपने शरीर का मांस बढ़ाना चाहता है, वह मनुष्य बहुत नीच पुरुष है, उससे नीच और कोई नहीं है ।

दुर्गादेवी शिवजी को कहती हैं—

मदर्थं शिव कुर्वन्ति तामसा जीवघातनम् ।

आकल्पकोटिं नरके तेषां वासो न संशयः ॥

(११५)

अर्थात्—हे शिव ! जो तामसी प्रकृति के दुष्ट मनुष्य मेरे लिये जीवों को मारते हैं, वे करोड़ों कल्पकाल तक नरक में रहते हैं, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है ।

महाभारत में लिखा है —

ये रात्रौ सर्वदाहारं, वर्जयन्ति सुमेघसः ।

तेषां पक्षोपवासस्य मासमेकेन जायते ॥

अर्थ—जो मनुष्य सदा रात में भोजन नहीं करते उनके एक मास में १५ उपवास हो जाते हैं । यानी—उनकी आयु का आधा समय उपवास करने के समान व्यतीत होता है ।

इत्यादि अनेक पौराणिक प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि हिन्दूधर्म में मांसभक्षण तथा जीवों का वध करना निषिद्ध ठहराया गया है । अतः किसी भी हिन्दू को देवी-देवताओं के लिए पशु-पक्षियों का वलिदान तथा पशु-यज्ञ कभी नहीं करना चाहिये, न मांस खाना चाहिये ।

जैनधर्म

जैनधर्म में अहिंसा को सर्वोच्च स्थान दिया गया तथा हिंसा, अहिंसा का बहुत विस्तार से और सूक्ष्मता से विवेचन किया है । जीवों की जातियाँ, उनके विभिन्न वर्ग, उनकी प्राणसंख्या आदि का विस्तार से उल्लेख किया गया है ।

अहिंसा तथा हिंसा का विवेचन करते हुए जैन आचार्यों ने लिखा है —

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्याहिंसेति ।

तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥

यानी—अपने शुद्ध परिणामों के घातक, तथा हिंसा के कारणभूत राग, द्वेष, क्रोध आदि विचारों का हृदय में उत्पन्न न

(११६)

होना 'अहिंसा' है और उन घातक विचारों का हृदय में उत्पन्न होना 'हिंसा' है ।

अर्थात्—अपनी या अन्य जीव की हिंसा करने की मन में भावना आते ही हिंसा पाप हो जाता है । इसी हिंसाभावना का दूसरा नाम भावहिंसा है । भावहिंसा के फलस्वरूप आत्महत्या करना, अपने आपको आहत (घायल) करना या अन्य जीव को मारना अथवा किसी प्रकार का कष्ट देना द्रव्यहिंसा है ।

हिंसा चार प्रयोजनों से होती है । १. शिकार आदि खेलने के संकल्प से (संकल्पी हिंसा), २. धर्मरक्षा, दीनरक्षा, स्त्रीरक्षा या आत्मरक्षा के लिये आततायी, गुण्डे, चोर, डाकू, बदमाश अथवा शत्रु (वैरी) से सामना करते हुए, लड़ते हुए (विरोधी हिंसा), ३. खेती, व्यापार, उद्योग-धन्धे करने में जीवघात होना (उद्योगी हिंसा) और ४. घर के काम काज करने में—बुहारी लगाना, रसोई बनाना, आटा पीसना, मसाला कूटना, नहाना धोना आदि कार्यों में कीड़े-मकोड़े आदि की हिंसा (आरम्भी हिंसा) होती है ।

इन चारों प्रकार की हिंसाओं में से पहली संकल्पी हिंसा निर्दय क्रूर परिणामों से की जाती है, शेष तीनों हिंसाएँ गृहस्थाश्रम में लाचारी से हुआ करती हैं । जैन गृहस्थ संकल्पी हिंसा नहीं करता । शेष तीन प्रकार की हिंसाओं को भी कम से कम करने का यत्न करता है । जैन मुनि चारों प्रकार की हिंसा से दूर रहते हैं ।

मांस खाने का त्याग प्रत्येक जैन को अवश्य होता है ।

हिंसा से बचने के विचार से ही जैनी जल को कपड़े से छान कर पीते हैं क्योंकि जल में असंख्य सूक्ष्म कीटाणु होते हैं जो कि खुर्दवीन से ही दीख सकते हैं । कपड़े से छानकर जल पीने से उनकी रक्षा हो जाती है ।

(११७)

रात्रि को भोजन करने से सूक्ष्म जीवों की हिंसा होनी संभव है, इस कारण जैन जन रात्रि को भोजन नहीं करते ।

मांस में पोषक तत्व ?

मांसभक्षी मनुष्य यह समझते हैं कि मांस खाने से शरीर में अन्न, फल, दूध, दही आदि की अपेक्षा अधिक शक्ति आती है, सो यह भी भ्रम है । वैज्ञानिक ढंग से जाँच करने पर अन्न, फल, मांस आदि पदार्थों में जो शक्ति उत्पन्न करने वाले पोषक अंश हैं, वे निम्नलिखित हैं—

बादाम में	६१ प्रतिशत शक्ति के अंश			
सूखे चने, मटर में	८७	"	"	"
चावल में	८७	"	"	"
गेहूँ के आटे में	८६	"	"	"
जौ के आटे में	८४	"	"	"
दाख आदि मेवा में	७३	"	"	"
घी में	८७	"	"	"
मलाई में	६६	"	"	"
दूध में	१४	"	"	"
दूध में ८६ प्रतिशत जो पानी होता है वह भी शरीर के लिये लाभदायक होता है ।				
अंगूर आदि फलों में	२५	"	"	"
फलों का जलीय अंश भी लाभकारक होता है ।				
मांस में	२८	"	"	"
मांस का जल अंश शरीर के लिये हानिकारक होता है ।				
मछली में	१३	"	"	"

(११८)

इस वैज्ञानिक विश्लेषण के अनुसार मांस में सूखे चने, मटर, चावल, गेहूँ, जौ, घी, मलाई, वादाम, किशमिश आदि से कम शरीरपोषक शक्ति के अंश हैं। अतः साधारण व्यक्ति भी चना, मटर, चावल खाकर मांसभक्षी की अपेक्षा अधिक बलवान् बन सकता है।

घास-पत्ती खाने वाले बैल, भैंस, हाथी, गेंडा आदि की अपेक्षा मांसभक्षी सिंह में बल अधिक नहीं होता। उसमें क्रूरता और चपलता अधिक होती है। इसी कारण स्फूर्ति से झपट कर दूसरे पशुओं को मार डालता है। भारी बोझ उठाना, भारी बोझ खींचना आदि बलपरीक्षण के कार्यों में सिंह-बैल, घोड़ा, भैंस आदि की बराबरी नहीं कर सकता। खूनी हाथी की पकड़ में जब सिंह आ जाता है तब हाथी उसे अपने एक पैर से पिचल कर या सूँड में पकड़ जमीन पर पटक कर क्षणभर में मार डालता है। द्वन्द्वयुद्ध में सूअर भी सिंह को पीछे हटा देता है।

इससे मांस खाने से अधिक बलवान् होने की मान्यता गलत है।

कुछ व्यक्तियों का कहना है कि “अहिंसा आचरण करने से मनुष्य का हृदय कोमल हो जाता है, अतः वह देश, जाति, धर्म आदि की रक्षा करने के लिये वीरयोद्धा (लड़ाका) नहीं बन सकता। जैनों के अहिंसाप्रचार के कारण भारत देश अपनी स्वतंत्रता खोकर लगभग ८०० वर्ष तक परतन्त्र बना रहा।”

उन लोगों की यह मान्यता गलत है। अहिंसा मनुष्य को दीन, हीन, निर्बल प्राणी के लिये दयालु तो अवश्य बनाती है किन्तु कायर नहीं बनाती। गृहस्थ का अहिंसाव्रत अन्यायी, अत्याचारी आक्रान्ता (हमलावर) के साथ युद्ध करने से नहीं रोकता। स्वरक्षा,

(११६)

स्वदेश, स्वधर्म, दीन-निर्वल की रक्षा के लिये अहिंसाव्रती गृहस्थ को यदि युद्ध करना पड़े तो वह युद्ध भी करता है।

भारत के शासक अहिंसाव्रती जैन वीर राजाओं ने भारत की स्वतंत्रता सुरक्षित रखी, उन्होंने विदेशी आक्रान्ताओं को भारत से मार भगाया। अतः अहिंसा के कारण भारत पर विदेशी राज्य नहीं जमा। भारत की परतन्त्रता का मूल कारण रायपिथौरा पृथ्वीराज चौहान की राजनैतिक गलती और राजा जयचन्द्र का शत्रु से जा मिलना था।

हम यहाँ कुछ अहिंसक राजाओं का परिचय देते हैं।

सम्राट् चन्द्रगुप्त

विदेशी आक्रमणकारियों से भारत को स्वतन्त्र, सुरक्षित रखने वाला सम्राट् चन्द्रगुप्त जैन धर्मानुयायी शाकाहारी था। अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु का शिष्य था। अपने अन्तिम जीवन में राज-पाट त्यागकर आ० भद्रबाहु से मुनिदीक्षा लेकर वह महाव्रती साधु बना था। उनके साथ दक्षिण भारत गया था और श्रवण बेलगोला में पहाड़ी पर उसका समाधिमरण हुआ। उसके नाम पर ही उस पहाड़ी का नाम 'चन्द्रगिरि' प्रसिद्ध हुआ। उस पहाड़ी पर भद्रबाहु व चन्द्रगुप्त के विषय में अनेक शिलालेख पाये जाते हैं।

उसी अहिंसाप्रेमी चन्द्रगुप्त ने सम्राट् सिकन्दर के सेनापति सैल्यूकस को युद्ध में हराकर भारत से पीछे हटा दिया और उससे काबुल कन्धार (गांधार) का प्रदेश छीन कर अपने भारतीय राज्य में मिला लिया।

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य का पौत्र (पोता) सम्राट् अशोक भी महान् पराक्रमी शूरवीर तथा अहिंसा धर्मपालक दयालु शासक

(१२०)

हुआ है। यह २६ वर्ष तक जैनधर्मानुयायी रहा, तत्पश्चात् बौद्ध हो गया था। इतिहासवेत्ता अबुलफजल लिखित 'आइने अकबरी' में लिखा है कि 'अशोक ने काश्मीर में जैनधर्म का प्रचार किया।'।

सम्राट् अशोक के स्तम्भों में जैन तीर्थंकरों के चिह्न अंकित हैं। धर्मचक्र में २४ आरे तीर्थंकरों की २४ संख्या के प्रतीक हैं। चतुर्मुखी सिंह भगवान् महावीर का चिह्न है। बैल, हाथी और घोड़ा क्रमशः भगवान् ऋषभनाथ, अजितनाथ और शंभवनाथ (पहले, दूसरे, तीसरे) तीर्थंकर के चरणचिह्न हैं।

इसी प्रकार जैन सम्राट्, कलिंग-चक्रवर्ती ऐल खारवेल भी बहुत वीर योद्धा हुआ है जिसने प्रायः समस्त भारत को अपने अधीन करके निष्कण्टक राज्य किया।

महान् योद्धा सिपहसालार दाऊदखाँ को युद्ध में पददलित करके हराने वाला, अवध की स्वतंत्रता सुरक्षित रखने वाला श्रावस्ती नरेश 'सुहेलदेव' जैन था, अहिंसक निरामिषभोजी था।

२८ युद्धों का विजेता, समरधुरन्धर वीर केसरी आदि पदों से सम्मानित वीर चामुण्डराय भी प्रसिद्ध धार्मिक अहिंसाप्रेमी जैन था जिसने श्रवण बेलगोला में जगत् के आठवें आश्चर्यस्वरूप ५७ फीट ऊँची गोम्मटेश्वर की मूर्ति का निर्माण कराया।

इसी तरह अन्य अनेक वीर राजा, सेनापति आदि इतिहास प्रसिद्ध हैं, जो जैन थे, निरामिषभोजी अहिंसक थे, किन्तु अच्छे युद्धवीर थे।

उपसंहार

भरत क्षेत्र में जब कर्मयुग (कर्मभूमि) का प्रारम्भ हुआ, तब भगवान् ऋषभनाथ युगप्रधान जननायक हुए। उन्होंने गृहस्थ

(१२१)

अवस्था में जनता को तथा अपने पुत्र-पुत्रियों को खेती-बाड़ी करना, वस्त्र, बर्तन, मकान बनाना आदि कलाएँ, व्यापार, पशु-पालन, अस्त्र-शस्त्र चलाना, मल्लयुद्ध, युद्धनीति, राजनीति, पढ़ना-लिखना आदि सिखलाया ।

जब उन्होंने गृहस्थाश्रम त्याग कर साधुदीक्षा ली तब मौन भाव से तपस्या की और पूर्ण आत्मशुद्धि करके वीतराग, सर्वज्ञ, कैवल्य, जीवन्मुक्त पद प्राप्त किया, आध्यात्मिक शत्रु काम, मद, क्रोध, राग, द्वेष, मोह आदि पर विजय पाने से उनका नाम 'जिन' प्रसिद्ध हुआ, अतः उनका प्रचारित धर्म 'जैनधर्म' कहलाया ।

उनका ज्येष्ठ पुत्र भरत पहला चक्रवर्ती सम्राट् हुआ । उसके नाम पर इस देश का नाम 'भारत' विख्यात हुआ ।

भारत के आदि-शिक्षक, आदि-योगी, आदि-धर्मप्रचारक भगवान् ऋषभनाथ हुए हैं । उनका प्रचारित 'जैनधर्म' समस्त धर्मों से प्राचीन है ।

प्राकृत भाषा सब भाषाओं से प्राचीन है । उसका संस्कार करके संस्कृत भाषा उत्पन्न हुई । प्राकृत भाषा से ही अपभ्रंश भाषा का उद्गम हुआ । अपभ्रंश भाषा से हिन्दी भाषा का निर्माण हुआ । प्राचीन हिन्दी ही खड़ी हिन्दी भाषा के रूप में परिणत हुई । हिन्दी में संस्कृत शब्द भी प्रचुरता से लिये गये हैं ।

प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तामिल भाषाओं में जैन विद्वानों ने महान् साहित्य निर्माण किया है ।

संसार के सबसे बड़े साहित्यकार श्री वीरसेन आचार्य हुए हैं । उन्होंने लगभग पौने दो लाख श्लोक प्रमाण धवल, जयधवल, महाधवल नामक सैद्धान्तिक व्याख्याग्रन्थों का प्राकृत तथा संस्कृत भाषा में निर्माण किया है ।

(१२२)

पदार्थविचार तथा यथार्थ तात्त्विक निर्णय स्याद्वाद द्वारा ही होता है। एक ही दृष्टिकोण से विचार करना जहाँ पारस्परिक विवाद का मूल कारण रहता है, वहीं वह अधूरा एवं असत्य भी रहता है, ये त्रुटियाँ स्याद्वाद से दूर हो जाती हैं।

अतः बुद्धिविकास, यथार्थ निर्णय, पारस्परिक विवादनिवारण के लिये स्याद्वाद सिद्धान्त परम उपयोगी है। अनेकान्तवाद, सप्तभङ्गीवाद स्याद्वाद के ही नामान्तर हैं।

विश्व का सर्वसम्मत, विश्वहितकारी धर्म 'अहिंसा' है। 'विश्वधर्म की रूप-रेखा' अहिंसामयी है। मनुष्य जिस तरह अपनी हिंसा नहीं चाहता, उसी तरह अन्य प्राणी भी अपनी हिंसा नहीं चाहते, अतः किसी को मत सताओ।

मनुष्य का स्वाभाविक भोजन दूध, अन्न, फल, मेवा है, यानी मनुष्य शाकाहारी (वैजीटेरियन) है, मांसाहारी नहीं है।

❀ विश्वधर्म की जय ❀



मेरी भावना

(श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार)

जिसने राग द्वेष कामादिक जीते, सब जग जान लिया ।
सब जीवों को मोक्षमार्ग का, निस्पृह हो उपदेश दिया ॥
बुद्ध, वीर, जिन, हरि, हर, ब्रह्मा, या उसको स्वाधीन कहो ।
भक्तिभाव से प्रेरित हो, यह चित्त उसी में लीन रहो ॥ १ ॥

विषयों की आशा नहीं जिनके, साम्य भाव धन रखते हैं ।
निज-पर के हित साधन में जो, निशिदिन तत्पर रहते हैं ॥
स्वार्थत्याग की कठिन तपस्या, बिना खेद जो करते हैं ।
ऐसे ज्ञानी साधु जगत् के, दुखसमूह को हरते हैं ॥ २ ॥

रहे सदा सत्संग उन्हीं का, ध्यान उन्हीं का नित्य रहे ।
उन ही जैसी चर्या में यह, चित्त सदा अनुरक्त रहे ॥
नहीं सताऊँ किसी जीव को, भूँठ कभी नहीं कहा करूँ ।
पर धन* वनिता पर न लुभाऊँ, संतोषामृत पिया करूँ ॥ ३ ॥

अहंकार का भाव न रक्खूँ, नहीं किसी पर क्रोध करूँ ।
देख दूसरों की बढ़ती को, कभी न ईर्ष्याभाव धरूँ ॥
रहे भावना ऐसी मेरी, सरल सत्य व्यवहार करूँ ।
बने जहाँ तक इस जीवन में, औरों का उपकार करूँ ॥ ४ ॥

मैत्रीभाव जगत् में मेरा, सब जीवों से नित्य रहे ।
दीन-दुखी जीवों पर मेरे, उर से करुणास्रोत बहे ॥
दुर्जन, क्रूर कुमार्गरतों पर, क्षोभ नहीं मुझको आवे ।
साम्य भाव रक्खूँ मैं उन पर, ऐसी परिणति हो जावे ॥ ५ ॥

* महिलाएँ वनिता की जगह मर्ता पढ़ें ।

(१२४)

गुणीजनों को देख हृदय में, मेरे प्रेम उमड़ आवे ।
 वने जहाँ तक उनकी सेवा, करके यह मन सुख पावे ॥
 होऊँ नहीं कृतघ्न कभी मैं, द्रोह न मेरे उर आवे ।
 गुणग्रहण का भाव रहे नित, दृष्टि न दोषों पर जावे ॥ ६ ॥
 कोई बुरा कहो या अच्छा, लक्ष्मी आवे या जावे ।
 लाखों वर्षों तक जीऊँ या, मृत्यु आज ही आ जावे ॥
 अथवा कोई कैसा ही भय, या लालच देने आवे ।
 तो भी न्यायमार्ग से मेरा, कभी न पद डिगने पावे ॥ ७ ॥
 होकर सुख में मग्न न फूले, दुख में कभी न घबरावे ।
 पर्वत, नदी, श्मशान, भयानक अटवी से नहिं भय खावे ॥
 रहे अडोल अकम्प निरन्तर, यह मन दृढ़तर बन जावे ।
 इष्ट वियोग अनिष्ट योग में सहनशीलता दिखलावे ॥ ८ ॥
 सुखी रहें सब जीव जगत् के, कोई कभी न घबरावे ।
 वैर, पाप, अभिमान छोड़ जग, नित्य नये मंगल गावे ॥
 घर-घर चर्चा रहे धर्म की, दुष्कृत दुष्कर हो जावे ।
 ज्ञानचरित उन्नत कर अपना, मनुज जन्मफल सब पावे ॥ ९ ॥
 ईति-भीति व्यापै नहिं जग में, वृष्टि समय पर हुआ करे ।
 धर्मनिष्ठ होकर राजा भी, न्याय प्रजा का किया करे ॥
 रोग-मरी-दुर्भिक्ष न फैले, प्रजा शांति से जिया करे ।
 परम अहिंसा धर्म जगत् में, फैल सर्वहित किया करे ॥ १० ॥
 फैले प्रेम परस्पर जग में, मोह दूर पर रहा करे ।
 अप्रिय-कटुक-कठोर शब्द नहिं, कोई मुख से कहा करे ॥
 वनकर सब 'युग-वीर' हृदय से, देशोन्नतिरत रहा करें ।
 वस्तुस्वरूप विचार खुशी से, सब दुख संकट सहा करें ॥ ११ ॥



